वार्षिक रु. ५०/-
मूल्य रु. ६.००
विवेक-ज्योति
वर्ष ४४ अंक ११ नवम्बर २००६ मूल्य रु. ६.००
रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

नवम्बर २००६

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४४
अंक ११

वार्षिक ५०/- एक प्रति ६/-

५ वर्षों के लिए — रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) — रु. १,०००/-

विदेशों में — वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन — २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

{सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम से बनवायें}

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५
०७७१ - २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

१. वैराग्य-शतकम् (भर्तृहरि) ५०३
२. स्वामीजी का सन्देश ('विदेह') ५०४
३. समाज की जीवनी-शक्ति (स्वामी विवेकानन्द) ५०५
४. श्रीराम-वाल्मीकि-संवाद (१०/१) (पं. रामकिंकर उपाध्याय) ५०७
५. नारद-भक्ति सूत्र (५) (स्वामी भूतेशानन्द) ५१२
६. श्रीरामकृष्ण की बोध-कथाएँ ५१५
७. आत्माराम की आत्मकथा (३२) ५१७
८. ईशावास्योपनिषद् (४) (स्वामी सत्यरूपानन्द) ५२१
९. स्वामीजी और राजस्थान (२३) (खेतड़ी-नरेश को पुत्रलाभ) (स्वामी विदेहात्मानन्द) ५२३
१०. चिन्तन-१२९ (अपरिग्रह का सुख) (स्वामी आत्मानन्द) ५२८
११. वाराणसी में विवेकानन्द (४) (स्वामी सदाशिवानन्द) ५२९
१२. माँ की मधुर स्मृतियाँ - ३६ माँ श्री सारदादेवी - ११ (आशुतोष मित्र) ५३१
१३. गीता का जीवन-दर्शन (११) दैवी सम्पदाएँ (७) स्वाध्याय (भैरवदत्त उपाध्याय) ५३४
१४. पुरखों की थाती (संस्कृत सुभाषित) ५३६
१५. विवेकानन्द को प्रणाम (कविता) (जितेन्द्र कुमार तिवारी) ५३६
१६. श्रीरामकृष्ण की प्रार्थनायें (स्वामी प्रपत्त्यानन्द) ५३७
१७. राँची में श्रीरामकृष्ण-भक्त-मण्डली ४४१
१८. मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प (डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर) ५४५

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

प्रिंट आर्डर - १२,७५०

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें —

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो । पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दिया जाय।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अतः उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिए अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कविताएँ इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव **स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर** से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट – **'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़)** के नाम से बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना नाम, पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नं. आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक रहने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रुपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमें मत भेजें।

(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

वैराग्य-शतकम्

प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुघास्ततः किं
न्यस्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम् ।
संपादिताः प्रणयिनो विभवैस्ततः किं
कल्पस्थितास्तनुभृतां तनवस्ततः किम् ।।६७।।

अन्वय – तनु-भृतां सकल-काम-दुघाः श्रियः प्राप्ताः ततः किं ? विद्विषतां शिरसि पदं न्यस्तं ततः किम् ? विभवैः प्रणयिनः संपादिताः ततः किं ? तनवः तनुभृतां कल्प-स्थिताः ततः किम्?

अर्थ – यदि व्यक्ति की समस्त कामनाओं की पूर्ति के लिये सारे ऐश्वर्य प्राप्त हो गये, तो भी क्या लाभ? यदि शत्रुओं ने उसके चरणों में सिर झुका दिये, तो भी क्या लाभ? अपनी धन-सम्पदा के बल पर अनेक प्रिय मित्र मिल गये, तो भी क्या लाभ? और यदि उसका शरीर इस पूरे कल्प तक जीवित रहे, तो भी क्या लाभ?

भक्तिर्भवे मरणजन्मभयं हृदिस्थं
स्नेहो न बन्धुषु न मन्मथजा विकाराः ।
संसर्गदोषरहिता विजना वनान्ता
वैराग्यमस्ति किमितः परमर्थनीयम् ।।६८।।

अन्वय – भवे भक्तिः, मरण-जन्म-भयं हृदि-स्थं, बन्धुषु स्नेहः न, मन्मथ-जाः विकाराः न, संसर्ग-दोष-रहिताः विजनाः वन-अन्ताः वैराग्यम् अस्ति , इतः परं प्रार्थनीयम् किम् ।।

अर्थ – यदि महादेव शिव के प्रति भक्ति हो, यदि हृदय में सर्वदा जन्म तथा मृत्यु का भय बना रहे, यदि सगे-सम्बन्धियों के प्रति कोई आसक्ति न हो, यदि मन में काम-जनित विकार न हों, यदि लोगों की भीड़ से दूर निर्जन वनांचल हो, और चित्त में वैराग्य हो – तो फिर इससे बढ़कर अन्य किस चीज की कामना की जाय?

– भर्तृहरि

स्वामीजी का सन्देश

– १ –

(मारूबिहाग–कहरवा)

वीर, मत होना कभी हताश ।
लग जाओ कर्तव्य-कर्म में, ले भविष्य की आस ।।

ऋषियों की धरती पर फूलो, निज परम्परा को मत भूलो,
सारे जग में फैला डालो, निज चारित्र्य-सुवास ।।

धर्मभाव में भेद नहीं है, सबमें ब्रह्म सनातन ही है,
वेदों की शिक्षा अपनाओ, करो स्वार्थ का नाश ।।

अन्धकार है घोर तमस का, प्रकट करो बल-बुद्धि मनस का,
बन जाओ तुम देव स्वयं ही, कर आप्राण प्रयास ।।

भारतीय अस्मिता पुरातन, धर्म हमारा नित्य सनातन,
वैदिक प्रज्ञा के प्रसार से, चहुँ दिशि करो प्रकाश ।।

– २ –

(केदार या भैरवी–कहरवा)

स्वामीजी सन्देश दे गए, भले बनो और भला करो,
कर्तव्यों को पूरा करते, श्रेयमार्ग पर चला करो ।।

जानो जीवन भंगुर अपना, छोड़ो सुख-सम्पद का सपना,
आए दुर्लभ नर-तन लेकर, महिमा निज उज्ज्वला करो ।।

राग-द्वेष मत रखना चित में, लगे रहो नित सबके हित में,
मोहमयी दुस्तर माया की, उच्छेदन-शृंखला करो ।।

अपना चिर स्वरूप पहचानो, दीन-दुखी को ईश्वर जानो,
प्रीति और सेवा के शीतल, निर्झर बनकर ढला करो ।।

दुख-पीड़ा पूरित जग सारा, है 'विदेह' सौभाग्य तुम्हारा,
सबको ज्ञानालोक दिखाने, निज मशाल हो जला करो ।।

– *विदेह*

समाज की जीवनी शक्ति

स्वामी विवेकानन्द

अद्वैत आश्रम, मायावती द्वारा प्रकाशित State Society and Socialism नामक संकलन में प्रश्नोत्तर के रूप में स्वामीजी के विचारों का संयोजन किया गया है। प्रस्तुत हैं उसी पुस्तक के महत्वपूर्ण अंशों का हिन्दी रूपान्तरण। – सं.)

प्रश्न – समाज किस प्रकार अपनी ऊर्जा खो बैठता है?

उत्तर – हर राष्ट्र के जीवन का कोई-न-कोई उद्देश्य है। प्रत्येक राष्ट्र अपनी निजी विशेषताओं तथा व्यक्तित्व के साथ जन्म लेता है। और सभी राष्ट्र मिलकर एक सुमधुर सह-संगीत की सृष्टि करते हैं, परन्तु प्रत्येक राष्ट्र मानो राष्ट्रों के स्वर-सामंजस्य में एक-एक पृथक् स्वर का प्रतिनिधित्व करता है। वही उसकी जीवनशक्ति है, वही उसके राष्ट्रीय जीवन का मेरुदण्ड या मूल आधार है।[३२]

जैसे यदि किसी व्यक्ति के मर्मस्थल पर कोई चोट न लगे, यानी यदि उसका मर्मस्थल दुरुस्त रहे; तो उसके दूसरे अंगों पर चाहे जितनी भी चोट लगे, उसे गम्भीर नहीं कहेंगे, उससे वह मरेगा नहीं; वैसे ही जब तक हमारे राष्ट्र का मर्म-स्थल सुरक्षित है, तब तक उसके विनाश की कोई आंशका नहीं हो सकती।[३३]

हर मनुष्य में एक भाव विद्यमान होता है, बाह्य मनुष्य उसी भाव का प्रकाश अर्थात् भाषा मात्र रहता है। इसी प्रकार प्रत्येक राष्ट्र में एक राष्ट्रीय भाव है। वह भाव जगत् के लिये कार्य करता है, वह संसार की स्थिति के लिये आवश्यक है। जिस दिन इसकी आवश्यकता नहीं रहेगी, उसी दिन उस राष्ट्र अथवा व्यक्ति का नाश हो जायेगा।[३४]

भारत की अवनति इसलिये नहीं हुई कि हमारे पूर्वजों के नियम तथा आचार-व्यवहार बुरे थे, वरन् उसकी अवनति का कारण यह था कि उन नियमों और आचार-व्यवहारों को उनकी न्यायसंगत परिणति तक नहीं ले जाने दिया गया।[३५]

चीन क्यों अव्यवस्थित हो गया? – इसलिये कि वह ऐसे क्षमतावान लोगों को पैदा नहीं कर सका, जो उस व्यवस्था को जारी रख पाते।[३६]

परन्तु अँग्रेजों के मन में यह धारणा होने लगी है कि यदि भारतीय साम्राज्य उनके हाथों से निकल जाय, तो अँग्रेज राष्ट्र का विनाश हो जायेगा, इसीलिये किसी-न-किसी प्रकार भारत पर उन्हें इंग्लैंड का अधिकार जमाये रखना ही होगा। और इसके प्रधान उपाय के रूप में अँग्रेज राष्ट्र का 'गौरव' भारतवासियों के हृदय में सदा जाग्रत रखना होगा। इस बुद्धि की प्रबलता और तदनुसार चेष्टा में अधिकाधिक वृद्धि देखकर एक साथ ही हर्ष और खेद दोनों होते हैं। भारत में रहनेवाले अँग्रेज शायद यह भूल जाते हैं कि जिस वीरता, चेष्टा तथा अनन्य स्वजाति प्रेम के बल पर उन्होंने इस साम्राज्य को लिया है, और सदा सचेत तथा विज्ञान का सहारा-प्राप्त जिस वाणिज्य-बुद्धि से उन्होंने भारत जैसे सब प्रकार के धन पैदा करनेवाले देश को भी अँग्रेजी माल का बाजार बना रखा है, इन गुणों का जब तक उनके जातीय स्वभाव से लोप न होगा, तब तक उनका सिंहासन अचल रहेगा। जब तक ऐसे गुण अँग्रेजों में विद्यमान रहेंगे, तब तक भारत जैसे सैकड़ों राज्य चले भी जायँ तो क्या, फिर सैकड़ों राज्य प्राप्त हो जायेंगे। पर इन गुणों के प्रवाह का वेग यदि घट जाय, तो व्यर्थ 'गौरव' की चिल्लाहट से क्या साम्राज्य पर शासन हो सकेगा?[३७]

चीनियों और भारतीयों की चरम गरीबी ने ही उनकी सभ्यताओं को निर्जीव बना रखा है। एक आम हिन्दू या चीनी के लिये उसकी दैनिक जरूरतों की पूर्ति ही इतनी भयंकर लगती है कि कुछ और सोचने की फुरसत ही नहीं।[३८]

सच तो यह है कि देश की दुर्गति, जिसकी चर्चा हम यत्र-तत्र सुनते रहते हैं, उसका कारण धर्म का अभाव है। यदि देश के सभी लोग मोक्ष-धर्म का अनुशीलन करने लगें, तब तो बहुत ही अच्छा हो, परन्तु वह तो होता नहीं। भोग के बिना त्याग नहीं होता। पहले भोग करो, तब त्याग होगा। नहीं तो, यदि देश के सब लोग साधु हो गये, तो वे न इधर के रहेंगे, न उधर के। जिस समय बौद्ध राज्य में एक-एक मठ में लाख-लाख साधु हो गये थे, उसी समय देश ठीक नाश होने की ओर अग्रसर हुआ था। बौद्ध, ईसाई, मुसलमान, जैन – सभी को यह भ्रम है कि सबके लिये एक ही कानून और एक ही नियम है। यह बिल्कुल गलत है; जाति और व्यक्ति के स्वभाव-भेद से सबके शिक्षा-व्यवहार के नियम अलग-अलग हैं, बलपूर्वक उन्हें एक करने से क्या होगा? बौद्ध कहते हैं मोक्ष के सदृश और क्या है; सारी दुनिया मुक्ति-प्राप्ति की चेष्टा करे, तो क्या ऐसा भी हो सकता है? तुम गृहस्थ हो, तुम्हारे लिये वे सब बातें आवश्यक नहीं हैं, तुम अपने धर्म का आचरण करो, हिन्दू शास्त्र यही कहते हैं। एक हाथ भी नहीं लाँध सकते, लंका कैसे पार करोगे। क्या यह ठीक है? दो व्यक्तियों का पेट भर नहीं सकते, दो लोगों
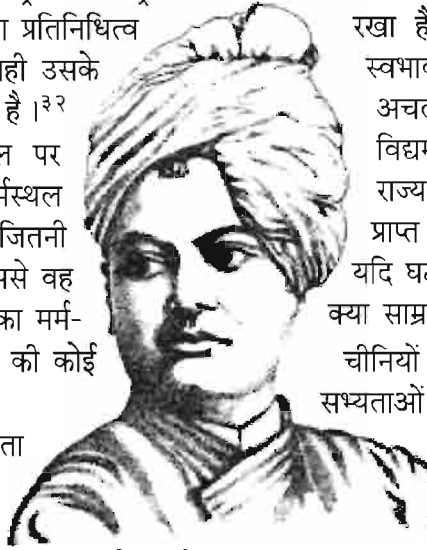
से राय मिलाकर एक साधारण भला कार्य कर नहीं सकते, पर मोक्ष लेने दौड़ पड़ते हो ! हिन्दू शास्त्र कहते हैं कि धर्म की अपेक्षा मोक्ष अवश्य ही बहुत बड़ा है, पर पहले धर्म करना होगा। बौद्धों ने यहीं पर भ्रमित होकर कई उत्पात खड़े कर दिये। अहिंसा ठीक है, निश्चय ही बड़ी बात है, कहने में अच्छी लगती है, पर शास्त्र कहते हैं – तुम गृहस्थ हो, यदि कोई तुम्हारे गाल पर एक थप्पड़ मारे और यदि उसका जवाब तुम दस थप्पड़ों से न दो, तो तुम पाप करते हो।

मनु कहते हैं – **आततायिनम् आयान्तम्** (८/३५०) – यदि कोई हत्या करने के लिये आये, तो ऐसे ब्राह्मण का वध भी पाप नहीं है। यह ठीक बात है, इसे भूलना नहीं चाहिये। **वीरभोग्या वसुन्धरा** – वीरता प्रकट करो, साम-दाम-दण्ड-भेद की नीति प्रकट करो, पृथ्वी का भोग करो, तभी तुम धार्मिक होगे। और गाली-गलौज सहकर चुपचाप घृणित जीवन बिताने से यहाँ नरक भोगना होगा और परलोक में भी वही होगा। यही शास्त्र का मत है। सबसे ठीक बात यह है कि स्वधर्म का अनुसरण करो। **अन्याय मत करो, अत्याचार मत करो, यथासाध्य परोपकार करो।** पर गृहस्थ के लिये अन्याय सहना पाप है, तत्काल उसका बदला चुकाने की चेष्टा करनी होगी। बड़े उत्साह के साथ अर्थोपार्जन कर स्त्री तथा परिवार के लोगों का पालन करना होगा, भले कार्य करने होंगे। ऐसा न कर सके, तो तुम मनुष्य किस बात के? जब तुम गृहस्थ ही नहीं, तो फिर मोक्ष की तो बात ही क्या !

हम पहले कह आये हैं कि धर्म कर्ममूलक है। धार्मिक व्यक्ति का लक्षण है – सतत कर्मशीलता। यहाँ तक कि कई मीमांसकों का मत है कि वेद के जिस अंश में कर्म करने को नहीं कहा गया है, वह प्रसंग वेद का अंग ही नहीं है। जैमिनी के एक सूत्र में है – **आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् आनर्थक्यम् अतदर्थानाम् (१/२/१)**। ''ॐकार का ध्यान करने से सब कामों की सिद्धि होती है, हरिनाम का जप करने से सब पापों का नाश होता है, शरणागत होने पर सब वस्तुओं की प्राप्ति होती है'' – शास्त्र की ये सारी अच्छी बातें सत्य हैं, पर हम देखते हैं कि लाखों लोग ॐकार का जप करते हैं, हरिनाम लेते हुए पागल हो जाते हैं, रात-दिन 'प्रभु जो करे' ही कहते रहते हैं, पर उन्हें कुछ मिलता नहीं। तब समझना होगा कि किसका जप सच्चा है? किसके मुँह का हरिनाम वज्रवत् अमोघ है? कौन सचमुच शरण में गया है? वही **जिसने कर्म द्वारा अपनी चित्तशुद्धि कर ली है**, अर्थात् जो धार्मिक है।

प्रत्येक जीव शक्ति-प्रकाश का एक-एक केन्द्र है। पूर्व कर्मफल से जो शक्ति संचित हुई है, उसी के साथ हम लोग जन्मे हैं। जब तक वह शक्ति कार्यरूप में परिणत नहीं होती, तब तक कौन स्थिर रहेगा, कौन कर्मत्याग करेगा? तो क्या दु:ख-भोग की अपेक्षा सुख-भोग अच्छा नहीं? कुकर्म की अपेक्षा सुकर्म अच्छा नहीं? रामप्रसाद ने कहा है, ''भले और बुरे दो कर्म हैं और भले कर्म करना ही उचित है।''

अब 'अच्छा क्या है? मुक्ति चाहनेवालों का 'अच्छा' एक प्रकार का है और धर्म चाहनेवालों का 'अच्छा' दूसरे प्रकार का। गीता का उपदेश देनेवाले भगवान ने इसे बड़ी अच्छी तरह समझाया है; इसी महान् सत्य के ऊपर हिन्दुओं का स्वधर्म और जाति-धर्म आदि निर्भर है। **अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च। (१२/१३) आदि** भगवद्वाक्य मुमुक्षुओं के लिये हैं। और – **क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ – हे अर्जुन, तू कायरता को मत प्राप्त हो २/३), तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व – इसलिये तू उठ और यश की प्राप्ति कर (११/३३)**, आदि से भगवान ने धर्म-प्राप्ति का मार्ग दिखा दिया है। अवश्य ही कर्म करने पर कुछ-न-कुछ पाप होगा ही। मान लो कि पाप हुआ ही, तो क्या उपवास की अपेक्षा आधा पेट खाना अच्छा नहीं है? कुछ भी न करने की अपेक्षा, जड़वत् बनने की अपेक्षा कर्म करना क्या अच्छा नहीं है, भले ही उस कर्म में अच्छाई और बुराई का मिश्रण क्यों न हो? गाय झूठ नहीं बोलती, दीवाल चोरी नहीं करती, पर फिर भी वे गाय और दीवाल ही रह जाती हैं। मनुष्य चोरी करता है, झूठ बोलता है, फिर भी वही मनुष्य देवता हो जाता है। जिस अवस्था में सत्त्वगुण की प्रधानता होती है, उसमें मनुष्य निष्क्रिय हो जाता है तथा परम ध्यानावस्था को प्राप्त होता है। जिस अवस्था में रजोगुण की प्रधानता होती है, उसमें वह अच्छे-बुरे काम करता है तथा जिस अवस्था में तमोगुण की प्रधानता होती है, उसमें वह निष्क्रिय-जड़ हो जाता है। बाहर से कैसे जाना जा सकता है कि सत्त्वगुण की प्रधानता हुई है या तमोगुण की? हम सुख-दु:ख से परे क्रियाहीन, शान्त, सात्त्विक अवस्था में हैं या शक्ति के अभाव से निष्प्राण, जड़वत् निष्क्रिय, महा-तामसिक अवस्था में पड़े हुये धीरे-धीरे चुपचाप सड़ रहे हैं? इस प्रश्न का उत्तर दो और अपने मन से पूछो। इसका उत्तर क्या होगा? बस, **फलेन परिचीयते**। सत्त्व की प्रधानता में मनुष्य निष्क्रिय और शान्त होता है, पर निष्क्रियता महाशक्ति के केन्द्रीभूत होने से होती है, वह शान्ति महावीर्य की जननी है। उन महापुरुष को फिर हमारी तरह हाथ-पाँव हिलाकर काम नहीं करना पड़ता। उनकी इच्छा होने से ही सारे काम पूर्णत: सम्पन्न हो जाते हैं। ऐसा सत्त्वगुण-प्रधान व्यक्ति ब्राह्मण है, सबका पूज्य है। क्या उसे ऐसा कहते हुये द्वार-द्वार घूमना पड़ता है – 'मेरी पूजा करो?' जगदम्बा उसके ललाट पर अपने हाथ से लिख देती हैं कि 'इस महापुरुष की सब लोग पूजा करो' और जगत् सिर नवाकर इसे मान लेता है। वही सचमुच 'मनुष्य' है।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।

शेष अगले पृष्ठ पर

श्रीराम-वाल्मीकि-संवाद (१०/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम द्वारा १९९६-९७ में आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती-समारोहों के समय पण्डितजी ने उपरोक्त विषय पर जो प्रवचन दिये थे, यह उसी का अनुलेख है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। – सं.)

जसु तुम्हार मानस बिमल
हंसिनि जीहा जासु ।
मुकताहल गुन गन चुनइ
राम बसहु हियँ तासु ।। २/१२८

वैसे तो यह जो दूसरा स्थान है, उसी पर नौ दिन कथा हो सकती थी, पर मुझे लगा कि फिर तो चौदह स्थानों के लिये चौदह वर्ष की योजना हो जायेगी। लगा कि यथासाध्य इसमें थोड़ी-सी गति लाई जाय। और इसलिये आज तीसरे स्थान की चर्चा की जायेगी।

प्रभु ने महर्षि वाल्मीकि से पूछा था कि मैं कहाँ निवास करूँ? महर्षि को हँसी आ गई। जब सर्वत्र निवास करनेवाला पूछ रहा हो कि मैं कहाँ रहूँ, तो क्या उत्तर दिया जाय? परन्तु प्रभु के प्रश्न में एक विशेषता थी और वह बड़ी सांकेतिक विशेषता थी। उन्होंने निवेदन किया – आप तो देख ही रहे हैं कि मैं अकेला नहीं हूँ। मेरे साथ दो पात्र और हैं – जनकनन्दिनी सीता और मेरे प्रिय अनुज लक्ष्मण। तो इन दोनों के साथ मेरा रहना उपयुक्त हो, वह स्थान आप मुझे बताइये? व्यवहार में भी ऐसा होता है कि आप अकेले हैं, तो कहीं भी रह लेते हैं, पर यदि आपका विवाह हो जाय और साथ में गृहस्थी हो, तो फिर सोचना पड़ता है कि आपके लिये कहाँ रहना उपयुक्त होगा। आध्यात्मिक सन्दर्भ में यहाँ संकेत यह है कि सर्वव्यापी ईश्वर तो अकेला है – **एकमेवाद्वितीयम्** – वह ब्रह्म केवल एक है और उसके साथ एक बात और जुड़ी हुई है कि वह अनीह अर्थात् इच्छारहित है –

एक अनीह अरूप अनामा ।
अज सच्चिदानंद परधामा ।। १/१३/४

अरूप अर्थात् उसका कोई रूप नहीं है। अनाम कहने का तात्पर्य है कि उसका कोई नाम नहीं है। अज का अर्थ है जो अजन्मा है, जिसका जन्म कभी नहीं हुआ। ये वाक्य सत्-चित्-आनन्दमय अखण्ड ब्रह्म के सन्दर्भ में कहे गये हैं।

परन्तु यहाँ जो ब्रह्म है, वह अकेला नहीं है। उस ब्रह्म के साथ दो पात्र और जुड़े हुए हैं। अकेले ब्रह्म की प्रकृति सर्वथा भिन्न है और जब वह ब्रह्म इन दोनों के साथ विद्यमान होता है, तब उसमें एक परिवर्तन दिखाई देता है। वह जो एक ब्रह्म है, जो प्रत्येक व्यक्ति के अन्त:करण में, घट-घट में निवास करता है, उसको सृष्टि में होनेवाली घटनाओं से कुछ लेना-देना नहीं है। कौन क्या कर रहा है, किसके मन में क्या बात आई है, किसके मन में अच्छे विचार हैं, किसके मन में बुरे विचार हैं, या लोगों के द्वारा जो कुछ हो रहा है – उस पर उसकी दृष्टि नहीं है। इसीलिये वेदान्त में उसके लिये लिखा गया है कि ब्रह्म कूटस्थ है। कूटस्थ का क्या अर्थ है? आपने लोहार का कार्यस्थल देखा होगा, जहाँ वस्तुयें बनाई जाती हैं। वहाँ लोहार पहले तो लोहे की धातु को गरम करता है और उसके बाद उसके सामने जो एक बड़ा-सा

पिछले पृष्ठ का शेषांश

और वे लोग, जो नाक-भौंह सिकोड़कर पिनपिनाते-किटकिटाते हुए बातें करते हैं, सात दिन के उपासे गिरगिट की तरह जिनकी 'म्यूँ-म्यूँ' आवाज होती है, जो फटे-पुराने चिथड़े की तरह हैं, जो सौ-सौ जूते खाने पर भी सिर नहीं उठाते, उन्हीं में निम्नतम श्रेणी का तमोगुण व्यक्त होता है। यही मृत्यु का चिह्न है। इसीलिये तो भगवान ने इतने विस्तृत रूप से गीता का उपदेश दिया। देखो तो, भगवान के श्रीमुख से पहली कौन-सी बात निकली – **क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ**। और अन्त में – **तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व**।

जैन, बौद्ध आदि के फेर में पड़कर हम लोग तामसिक लोगों का अनुकरण कर रहे हैं। पिछले हजार वर्ष से सारा देश हरिनाम की ध्वनि से नभ-मण्डल परिपूर्ण हो रहा है, पर परमात्मा उस ओर कान ही नहीं देता। वह सुने भी क्यों? बेवकूफों की बात जब मनुष्य ही नहीं सुनता, तब वह तो भगवान है। अब गीता में कहे हुये भगवान के वाक्यों को सुनना ही कर्तव्य है – **क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ** – हे अर्जुन, तू कायरता को मत प्राप्त हो, और **तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व** – इसलिये तू उठ और यश की प्राप्ति कर।[३९]

सन्दर्भ-सूची – ३२. विवेकानन्द साहित्य, (संस्करण १९८९) खण्ड ५, पृ. ४४; **३३.** वही, पृ. ४९; **३४.** वही, खण्ड १०, पृ. ४८; **३५.** वही, खण्ड ९, पृ. ३५३; **३६.** वही, खण्ड ४, पृ. ३४०-४१; **३७.** वही, खण्ड ९, पृ. २२४; **३८.** वही, खण्ड १, पृ. ३९६; **३९.** वही, खण्ड १०, पृ. ५१-५५ ❖ **(क्रमशः)** ❖

लोहा गड़ा होता है, उस पर उस लाल गर्म लोहे को रखकर अपनी हथौड़ी से प्रहार करते हुए उसे जैसा आकार देना चाहता है, देता है। इस प्रकार लोहे के द्वारा अनेक वस्तुयें बनती है और उनके विविध उपयोग हैं।

वेदान्त का यह कूटस्थ निर्गुण ब्रह्म भक्तों के आर्त पुकार से द्रवित होकर, सगुण रूप धारण करके पृथ्वी पर अवतीर्ण होता है। परन्तु देवतागण भ्रमवश समझ बैठते हैं कि उनका आगमन असुरों के साथ युद्ध में हमारी सहायता हेतु हुआ है। उन्होंने भरतजी को दृढ़ संकल्प के साथ आते देखकर सोचा कि भगवान यदि अयोध्या लौट गये, तो असुरों का संहार न हो सकेगा। अत: देवराज इन्द्र गुरु बृहस्पति से कहते हैं कि यदि भरतजी के आने से कार्य बिगड़नेवाला है, तो क्यों न हम श्रीराम और भरत के मिलन को ही रोकने की चेष्टा करें।

यह सुनकर बृहस्पतिजी कुछ क्षण मौन रहे। आश्चर्य से इन्द्र की ओर देखते रहे। आदमी किसी नये व्यक्ति की ओर आश्चर्य से देखता है, लेकिन वे अपने इतने पुराने शिष्य को बड़े आश्चर्य से देख रहे हैं। इन्द्र ने पूछा – गुरुदेव, आप मेरी ओर बड़े ध्यान से देख रहे हैं, कोई खास बात है क्या? गुरुदेव बोले – मैं तो यही मानकर चलता था कि तुम सहस्र-लोचन हो, हजार आँखवाले हो, लेकिन आज मैं देख रहा हूँ कि हजार आँखवाला अन्धा भी हो सकता है –

सहस नयन बिनु लोचन जाने ।। २/२१८/१

इन्द्र ने कहा – अच्छा गुरुदेव, आप जो भी कहें, पर मैं पूछ रहा हूँ कि यदि भरतजी श्रीराम से अनुरोध करें, तो वे लौट जायेंगे या नहीं? – निश्चित लौट जायेंगे।

राम सँकोची प्रेम बस भरत सपेम पयोधि ।
बनी बात बगरन चहति करउ जतनु छलु सोधि ।।

देवता स्वार्थी हैं और स्वार्थी व्यक्ति का एक विशेष स्वभाव होता है। संसार में अधिकांश व्यक्ति स्वार्थी होते हैं और व्यापक अर्थों में देखें तो स्वार्थरहित कोई होता ही नहीं। यहाँ तक कहा गया है –

सुर नर मुनि सब कै यह रीती ।
स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती ।। ४/१२/२

पर एक अनोखी बात आप देखेंगे। जो परमार्थ-परायण होते हैं, वे यह प्रदर्शित करने की चेष्टा नहीं करते कि वे बड़े परमार्थी हैं, या त्यागी हैं, या भक्त हैं; पर जो स्वार्थी होता है, वह अधिक-से-अधिक यही चेष्टा करता है कि लोग उसको स्वार्थी की जगह परमार्थी समझ लें। क्योंकि वह जानता है कि स्वार्थी कहलाने में निन्दा है। आप और हम जब किसी की निन्दा करते हैं, तो यही कहते हैं कि बड़ा स्वार्थी है। तो कौन अपने को स्वार्थी कहलाना चाहेगा ! अत: स्वार्थी व्यक्ति तो अपने आप को परमार्थी के रूप में प्रस्तुत करता है। देवताओं ने भी यही किया।

बृहस्पतिजी ने इन्द्र से पूछा – तुम क्यों चाहते हो कि श्रीराम और भरतजी का मिलन न हो? वे बोले – "महाराज, आप तो जानते ही हैं कि भगवान के अवतार का क्या उद्देश्य है। भगवान का अवतार राक्षसों का वध करने और पृथ्वी का भार उतारने के लिए होता है। अवतार के इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही उनका वन जाना आवश्यक है। रावण का वध आवश्यक है। पर भरत तो अवतार के उद्देश्य में बाधक हैं। यदि वे श्रीराम को लौटा ले जायेंगे, तो अवतार का कार्य पूरा नहीं होंगा। और हम तो साधक के रूप में चाहते हैं कि भगवान ने जिस उद्देश्य से अवतार लिया है, वह पूरा हो।"

यही स्वार्थी की भाषा है। इसलिए गोस्वामीजी मानस में देवताओं के सन्दर्भ में कुछ ऐसे वाक्य कहते हैं, जो बड़े कटु लगते हैं, बड़े आक्षेपमूलक होते हैं। रावण-वध के बाद जब देवता आए और श्रीराम की स्तुति करने लगे, तो वह स्तुति बड़ी उच्च कोटि की भाषा में थी। गोस्वामीजी को तो प्रसन्न होना चाहिये था कि उनके आराध्य की स्तुति में ये श्लोक पढ़े जा रहे हैं, पर वे देवताओं को क्षमा नहीं कर पाते। स्तुति करनेवाले देवताओं के लिए उन्होंने जो पंक्ति लिखी, वह बड़ी विचित्र है। बोले – बोलते तो ऐसा हैं कि लगता है कि इनसे अधिक परमार्थपरायण कोई भी नहीं है, पर परमार्थ की आड़ में वस्तुत: इनका स्वार्थ ही होता है –

आए देव सदा स्वारथी ।
बचन कहहिं जनु परमारथी ।। ६/११०/२

एक नयी दृष्टि। भक्त मानता है कि मैं स्वार्थी हूँ और जो स्वार्थी हैं वे सिद्ध करते हैं कि मैं परमार्थी हूँ। देवता मानो यह सिद्ध करना चाहते हैं कि भरत तो स्वार्थी हैं, अपनी भावना के वशीभूत होकर वे श्रीराम को लौटा ले जाना चाहते हैं और हम लोग अवतार का उद्देश्य पूरा करने के लिये ही वह चेष्टा कर रहे हैं कि श्रीभरत और श्रीराम की भेंट न हो। हम देवता हैं, जानते हैं कि अवतार का उद्देश्य क्या है और उसे पूर्ण करने लिये यही करना उचित है।

बात तर्कसंगत थी, लेकिन उस समय बृहस्पति ने अवतारवाद की और ईश्वर के सन्दर्भ की जो व्याख्या की, वह बड़ी महत्वपूर्ण है। उन्होंने कहा – अच्छा, यह बताओ कि ईश्वर का अवतार क्यों होता है? देवता बोले – हम लोगों ने प्रार्थना की और उससे द्रवित होकर भगवान ने कहा कि हम अवतार लेंगे। उन्होंने कहा – "अच्छा, सोचो कि यदि भगवान का अवतार तुम्हारे लिये होता, तो इतने विलम्ब से क्यों होता? रावण के पहले भी तो हिरण्यकश्यप आदि राक्षस अत्याचार करते थे, तो भगवान यदि तुम्हारे प्रति इतने सदय हैं, इतने उदार हैं, तो उन्हें तो चाहिये कि तत्काल उनका विनाश कर देते। तुम लोगों ने अपने हृदय में यह जो भ्रम पाल रखा है, इसे निकाल दो। यह बिलकुल न समझो

कि भगवान तुम्हारे लिये अवतार लेते हैं। इस भ्रम के कारण तुम व्यर्थ ही अपने आपको बड़ा मानते हो।'' – क्यों, महाराज? तब बृहस्पति ने व्याख्या की कि कैसे निराकार ब्रह्म सगुण साकार होता है। बृहस्पति ने कहा – नहीं। ऐसा लगता है कि भगवान ने देवताओं के लिए अवतार लिया, लेकिन ऐसा कुछ नहीं है। और तब उन्होंने ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन किया। आप क्रम पर ध्यान देंगे, निर्गुण ब्रह्म का स्वरूप और निर्गुण ब्रह्म का कोई स्वभाव तो होता नहीं। दूसरी ओर सगुण ब्रह्म का स्वभाव है। स्वरूप और स्वभाव में जो अन्तर है, उसकी ओर संकेत करते हुए उन्होंने कहा कि सत्य तो यह है कि ब्रह्म को तुमसे या राक्षसों से कुछ लेना देना नहीं है। वह द्रष्टा है, कूटस्थ है, उसको न पाप से कोई द्वेष है और न तो पुण्य से कोई राग है –

जद्यपि सम नहिं राग न रोषू।
गहहिं न पाप पूनु गुन दोषू ।। २/२१९/३

इससे उल्टा अर्थ लेने की कृपा मत करिएगा कि चलो, ईश्वर पाप-पुण्य और गुण-दोष की ओर दृष्टि नहीं डालता, इसलिए पाप करने की छूट मिल गई। ऐसा कुछ नहीं है।

ईश्वर भले ही पाप की ओर दृष्टि न डालता हो, पर कर्म-सिद्धान्त का जो एक चक्र है, वह तो हर क्षण दृष्टि डालता है कि आप क्या कर रहे हैं। और कर्म के परिणाम से आप बच नहीं सकते। उसके लिए तो एक अलग ही पंक्ति है –

करम प्रधान बिस्व करि राखा।
जो जस करइ तो तस फलु चाखा ।। २/२१९/४

तो कर्म के द्वारा जो परिणाम प्राप्त होता है, इसमें ब्रह्म के हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं हैं। वह तटस्थ भाव से केवल द्रष्टा है। इसीलिए उसके लिए 'अनीह' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका एक अर्थ यह है, और 'अनीह' का एक अर्थ है कि जिसमें कोई इच्छा ही नहीं है। न नाम है, न रूप है और ऐसी स्थिति में बृहस्पति ने देवताओं को समझाने का प्रयत्न किया कि वस्तुत: तुम इस भ्रम को निकाल दो, वह ब्रह्म जब अवतरित होगा तो कैसे होगा? तब वे शब्द कहते हैं वे बड़े महत्त्व के हैं। ब्रह्म सम है और उस सम ब्रह्म को जब तक हम विषम नहीं बना लेंगे और जब तक उस सम ब्रह्म के स्वरूप में हम स्वभाव की सृष्टि नहीं करेंगे और जब तक उसके स्वभाव में सहानुभूति, पाप को मिटाने और पापी को दण्ड देने की वृत्ति उत्पन्न नहीं करेंगे, और जो भक्त हैं उनके कल्याण की भावना उत्पन्न नहीं करेंगे, तब तक वह हमारे लिए उपयोगी नहीं होगा।

स्वयं जो अपने अन्त:करण में उस ब्रह्म में स्थित हो जाते हैं, स्वयं भी उदासीन होकर व्यक्ति जब उस ब्रह्म से एकाकार होने की अनुभूति करता है, तो मानो वह भी उस प्रशान्त स्थिति में चला जाता है। पर अभी श्रद्धेय स्वामीजी महाराज ने परमहंस देव का जो दृष्टान्त सुनाया कि ऐसा ब्रह्म, जो अपने आप में पूर्ण काम है, जिसे कुछ नहीं चाहिए, उस ब्रह्म से हमें क्या लाभ है? वह ब्रह्म अपने आप में पूर्ण होगा, अपने आप में आनन्द होगा और तब उन्होंने एक दृष्टान्त दिया। दृष्टान्त यह है और इसमें यह जो प्रतीकों की आराधना है, उसकी ओर संकेत किया गया है। भगवान यदि सर्वव्यापी हैं, मूर्तिव्यापी हैं, तो मूर्ति-निर्माण की क्या आवश्यकता है? मूर्ति में हम भगवान की पूजा-आराधना क्यों करते हैं? चन्दन, पुष्प-माला, धूप, दीप, नैवेद्य या अन्य उपचारों के द्वारा पूजा करने की क्या आवश्यकता? जो निर्गुण-निराकार-वादी सन्त हैं, उन्होंने इसी बात पर बल दिया है। परन्तु जो भक्त-सिद्धान्त है, उसकी ओर बृहस्पति ने इन्द्र का ध्यान आकृष्ट किया और वह यह था कि ब्रह्म तो सम है, पर यदि हम उसे सक्रिय बनाना चाहते हैं, उसे थोड़ा विचलित होते हुए देखना चाहते हैं, तो वह कैसे होगा? वह सम ब्रह्म कब विषम व्यवहार करता हुआ दिखाई देता है? जब कोई भक्त अपने हृदय की भावना से उसकी आराधना करता है, तब ब्रह्म निष्पक्ष होकर भी उस भक्त का पक्षधर हो जाता है –

तदपि करहिं सम विषम बिहारा।
भगत अभगत हृदय अनुसारा ।। २/११९/५

तब उसमें राग का, रोष का उदय होता है और भक्त जैसा चाहता है, वह ईश्वर वैसा ही करता है। निर्गुण से सगुण बन जानेवाला ईश्वर, भक्त के द्वारा वह प्रगट किया हुआ ईश्वर ही हमारे जीवन के लिये कल्याणकारी सिद्ध हो सकता है।

यह समत्व और विषमता का प्रसंग बड़ा मधुर है। जब प्रभु का हनुमानजी से मिलन हुआ, तो प्रभु ने कुछ विलम्ब किया, कुछ कठोरता का नाटक किया, हनुमानजी को हृदय से नहीं लगाया। पर बाद में जब हृदय से लगाया, तो प्रभु अपनी निष्ठुरता का परिचय देने के लिये मानो क्षमा याचना करते हैं कि हनुमान, मैंने तुमसे जो व्यवहार किया, उससे तुमको यह लग सकता है कि शायद मेरे मन में तुम्हारे प्रति कोई स्नेह नहीं है, कोई अनुराग नहीं है, क्योंकि मैं तो तुमसे अपरिचित की तरह बोल रहा था, अपरिचित की तरह पूछ रहा था कि ब्राह्मण देवता, आप कौन हैं, आपका चरित्र क्या है? पर मैं तुम्हें बताना चाहता हूँ कि सत्य कुछ और है। – क्या? – हनुमान, तुम तो मुझे लक्ष्मण से भी दूने प्रिय हो।

सुनु कपि जियँ मानसि जनि ऊना।
तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना ।। ४/३/७

हनुमान जी उनके चरण पकड़कर बोले – ''आपके यहाँ भी दूना-चौगुना होने लगा? सारे शास्त्रों ने तो कहा कि ब्रह्म सम है। आप यदि कह देते कि तुम लक्ष्मण के समान प्रिय हो, तो भी समत्व की रक्षा होती। पर यह कहना कि तुम लक्ष्मण से दूने प्रिय हो, यह तो विषमता की बात हो गई।''

प्रभु बोले – "देखो, प्रचार तो यही है कि मैं सम हूँ। सारे शास्त्रों ने कहा – ईश्वर समदर्शी है, पर मैं खुली घोषणा करता हूँ कि ऐसा बिल्कुल भी नहीं है। मैं भले ही सम दिखाई देता हूँ, पर सेवक मुझे प्रिय है। और सेवकों में भी जो जितना अनन्य है, वह मुझे उतना ही अधिक प्रिय है –

समदरसी मोहि कह सब कोऊ ।
सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ ।। ४/३/८

गीता में भी प्रभु यही कहते हैं – **'समोऽहं सर्व भूतेषु'** (९/२९)। अपने समत्व का परिचय देते हुए वे कहते हैं – जो लोग अनन्य भाव से मेरा स्मरण करते हैं, वे मेरे विशेष प्रिय हैं और उनका सारा उत्तरदायित्व मैं वहन करता हूँ –

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।। ९/२२

विषमता के इसी सिद्धान्त को मानो भगवान श्रीराम ने आगे प्रदर्शित किया। हनुमानजी से तो कह दिया कि तुम दूने प्रिय हो, परन्तु सुग्रीव के प्रसंग में फिर वही समत्व की बात आ गई। जब सुग्रीव ने गर्जना की और उसे सुनकर बालि लड़ने चला, तो तारा उसके चरण पकड़कर बोली – सुग्रीव की गर्जना को आपने ध्यान से सुना? बालि ने कहा – मैं क्या इसे भूल सकता हूँ? अरे यह सुग्रीव है। तारा बोली – यह आज तक कभी आपके सामने गर्जा था? बोले – नहीं, गर्जता तो नहीं था, कभी-कभी दूसरे स्थानों में गर्जना सुनाई देती थी। तारा बोली – पर आज इसके गर्जना से क्या लग रहा है, जरा सोचिये। जिनसे इनकी मित्रता हो गई है, वे ऐसे शक्तिशाली राजकुमार हैं कि काल को भी जीत सकते हैं –

सुनु पति जिन्हहिं मिलेउ सुग्रीवा ।
ते दोउ बन्धु तेज बल सींवा ।।
कोसलेस सुत लछिमन रामा ।
कालहु जीति सकहिं संग्रामा ।। ४/७/२८-२९

गोस्वामीजी की बड़ी मधुर शैली है। अभिमानी दो प्रकार के होते हैं। आपने कोई बात कही और दूसरा व्यक्ति कह दे कि तुम्हारी यह बात सच नहीं है, बिल्कुल झूठ है। उसने मानो सिद्ध कर दिया कि तुम मूर्ख हो और हम बुद्धिमान हैं।

अभिमान का एक रूप यह है। परन्तु अभिमान का एक दूसरा रूप भी है, जो बड़ा कलापूर्ण होता है। ऐसा अभिमानी व्यक्ति सामनेवाले व्यक्ति की बात को काटता नहीं है, पर उसकी बात को काटे बिना ही उससे ऊँची बात कह देता है, जिससे सामनेवाला अपने आप नीचा हो जाता है। बालि और रावण में यही अन्तर है। रावण मन्दोदरी की बात को काट देता है – तुम डरपोक हो, तुम क्या कहती हो ! बालि ने भी कहा अपनी पत्नी से वही डरपोक शब्द कहा, पर रावण राम को मनुष्य सिद्ध करता है – अरे, वह राजकुमार जिसके पिता ने उसे देश निकाला दे दिया, वन में भटकता अपनी पत्नी को ढूँढता रहा, उस राम की तुम प्रशंसा कर रही हो? रावण ने राम की निन्दा करके अपनी श्रेष्ठता सिद्ध की, परन्तु बाली तो कलाकार-अभिमानी है। उसने यह नहीं कहा कि राम मनुष्य है। वह तो तारा की बात सुनकर हँसने लगा। बोली – हँस क्यों रहे हैं? – "मुझे हँसी आ रही है, तुमने कह दिया कि राम बड़े बलवान हैं। तुम नहीं जानती, पर मैं जानता हूँ, वे तो साक्षात् ब्रह्म है।" मानो और ऊपर चला। बोला – तुमने प्रशंसा करके उनको बलवान सिद्ध किया, पर वे तो ईश्वर हैं। तारा ने कहा – "मेरे ज्ञान से आपका ज्ञान बहुत ऊँचा है। तो आपको और भी अच्छी तरह से समझ लेना चाहिये कि यदि उनकी मित्रता सुग्रीव से हो गई है और उनका बल पाकर सुग्रीव आपको चुनौती दे रहा है, तो आपको तो विरोध नहीं करना चाहिये।" इस पर बालि ने अपना पहले का पढ़ा हुआ शास्त्र दुहरा दिया – शास्त्र कहते हैं कि ईश्वर समदर्शी हैं और वे समदर्शी हैं तो मुझमें और सुग्रीव में भेद कैसे करेंगे, वे मुझे क्यों मारेंगे?

कह बाली सुनु भीरु प्रिय समदरसी रघुनाथ ।

पर उसे तो बाद में पता चला कि यह समदर्शी तो बड़ा पक्षपाती और कठोर निकला। ऐसा बाण चलाया कि उसके अभिमान का नाश हुआ और उसकी मृत्यु भी हुई।

भगवान मानो बताना चाहते हैं कि समत्व के प्रदर्शन के लिये अवतार लेने की कोई आवश्यकता नहीं है, सम रूप में तो वे सबके अन्तःकरण में विद्यमान हैं ही, अवतार लेने का अर्थ है कि उन्होंने समता छोड़ दी है। सर्वव्यापी होने के स्थान पर यदि वे अयोध्या में जन्म लें, तो उन्होंने एक देश में रहना स्वीकार कर लिया है। जब सबके हृदय में निवास करते हुये भी वे कौशल्या के गर्भ में आ जायँ, तो भी उन्होंने एक व्यक्ति के लिये पक्षपात किया। यदि सारी तिथियों को छोड़कर उन्होंने किसी एक तिथि में जन्म लिया, तो भी उनसे पक्षपात हुआ। भक्तिशास्त्र का उद्देश्य ही यही है कि सम ब्रह्म के स्थान पर हमें पक्षपाती ब्रह्म की आवश्यकता है।

तब गुरुदेव ने भरतजी से जो शब्द कहा, उसी में प्रतीक की उपासना का रहस्य छिपा हुआ है। ईश्वर सर्वत्र है – पढ़-सुनकर ऐसा कहनेवाले तो अनेक मिलेंगे, परन्तु भरतजी एक ऐसे महान् भक्त हैं, जिन्हें ईश्वर सर्वत्र दिखाई देते हैं। उनके सामने चाहे ब्रह्मचारी हो, संन्यासी हो, कोल हो, किरात हो, या ब्राह्मण हो, वे सबको प्रणाम करते हैं –

करि प्रनामु पूँछहिं जेहि तेही ।। २/२२४/५

तो यह तो शास्त्रीय परम्परा से भिन्न था। लेकिन श्री भरत को श्रीराम सर्वत्र दिखाई देते हैं –

जे जन कहहिं कुसल हम देखे ।
ते प्रिय राम लखन सम लेखे ।। २/२२४/७

केवल भाषण में नहीं, केवल पढ़े हुए शास्त्र में नहीं,

भरतजी को सचमुच सबमें भगवान दिखाई देते हैं। लेकिन वे वन से विदा होने के पहले भगवान से कहते हैं – महाराज, कोई आधार दीजिये। और साथ ही बोले – बिना आधार के मन को न सन्तोष मिलता है, न शान्ति मिलती है –

बिनु आधार मन तोषु न साँती। २/३१६/२

आधार प्रतीक है। गीता (१२/५) में भी भगवान कहते हैं – अव्यक्त ब्रह्म के सन्दर्भ में व्यक्ति की यह समस्या है कि उसके सामने कोई आधार तो है नहीं, आधार तो स्थूल होना चाहिये। और जब तक उस स्थूल आधार की अनुभूति न हो, तब तक पूर्ण शान्ति का उदय नहीं होगा। भरतजी चाहते तो चले जाते और श्रीराम को सर्वव्यापी मानकर सेवा करते, पर उन्होंने प्रभु से आग्रह किया कि कृपया मुझे आधार दीजिये, क्योंकि बिना आधार के मन को सन्तोष नहीं होता है। श्रीराम किसके हृदय में नहीं हैं? सबके हृदय में हैं।

भक्त हृदय सियराम निवासू।।

अत: भरतजी की बात सुनकर प्रभु यह कह सकते थे – भरत, मैं तो तुम्हारे हृदय में ही बैठा हुआ हूँ, तुम्हें भला मूर्तिपूजा की, प्रतीक-पूजा की, आधार की क्या जरूरत? पर प्रभु ने ऐसा नहीं किया। उन्होंने अपनी पादुकाएँ प्रदान की –

प्रभु करि कृपा पाँवरी दीन्हीं।
सादर भरत सीस धरि लीन्हीं।। २/३१६/४

भगवान सर्वत्र हैं, भरतजी के हृदय में भी हैं और भगवान द्वारा इस पादुका को देखनेवाले अलग-अलग हैं, प्रत्येक की दृष्टि अलग-अलग है। किसी को दिखाई देता है कि जैसे घर में सुरक्षा के लिये किवाड़ होते हैं, वैसे ही ये दो पादुकाएँ नहीं, दो किवाड़ हैं। कुछ लोगों को दिखा कि ये दो पादुकाएँ नहीं, दो नेत्र हैं। किसी को लगा कि ये दो पादुकाएँ मानो रत्न-पेटिका के दो भाग हैं। किसी को लगा कि भरतजी ने किसी आधार की याचना की थी, तो प्रभु ने इन दो पादुकाओं के रूप में 'रा' और 'म' – इन अक्षरों का 'राम' शब्द ही दिया है। आप पढ़ते हैं – प्रजा की प्राणरक्षा के लिये मानो वे दो पहरेदार हैं, भरतजी के प्रेमरत्न की रक्षा के लिये मानो यह मंजूषा है। जीव की साधना के लिये राम नाम के दो अक्षर हैं। कुल की लज्जा बचानेवाले कपाट हैं। कर्मठ लोगों को लगा कि ये दो हाथ हैं या सेवा और सुधर्म के दो नेत्र हैं –

चरन पीठ करुनानिधान के।
जनु जुग जामिक प्रजा प्रान के।।
सम्पुट भरत सनेह रतन के।
आखर जुग जनु जीव जतन के।।
कुल कपाट कर कुसल करम के।
बिमल नयन सेवा सुधरम के।। २/३१६/५-७

ये सभी दृष्टियाँ बड़ी मनोहर हैं। साधना के लिये उपयोगी हैं, पर भरतजी ने उन पादुकाओं को किस रूप में देखा? वे उन्हें केवल साधन ही नहीं, साध्य के रूप में भी देखते हैं –

भरत मुदित अवलंब लहे तें।
अस सुख जस सिय रामु रहे तें।। २/३१६/८

बड़ी सूक्ष्म बात है। साध्य है श्रीराम और श्रीसीता। जिन लोगों ने उन्हें साधन के रूप में देखा, वह ठीक है, पर भरत जी को लगा कि यह साधन और साध्य दोनों है। अब यह एक बड़ा गम्भीर प्रश्न है। साधन और साध्य में भिन्नता होती है। साधक तो वह है, जो साधन कर रहा है, जिसे साधना के बाद सिद्धि मिलेगी। और सिद्ध वह है जो उस स्थिति तक पहुँच गया है। साधक वही होगा, जिसके जीवन में सिद्धि नहीं है और जो सिद्ध है उसके जीवन में साधना कैसे होगी? तो भरतजी सिद्ध हैं या साधक? बड़ी अनोखी बात है। यदि उन्हें साधक कहें, तो समस्या है, क्योंकि भगवान हनुमानजी से कहते हैं – भरत और मुझमें कोई भेद नहीं है –

भरतहि मोहि कछु अन्तर काहू।

फिर भरतजी की तपस्या, जप और साधना देखें, तो लगता है कि ये तो साधक ही हैं। भरतजी की विलक्षणता यही है। एक व्यक्ति, यथा लक्ष्मणजी में आपको सिद्धि दिखाई देती है और अनेक भक्तों में साधना दिखाई देती है, परन्तु भरतजी के जीवन में साधना और सिद्धि दोनों हैं –

साधन सिद्ध राम पगनेहू।
मोहि लखि परत भरत मत एहू।। २/२८९/८

भरतजी के जीवन में साध्य और साधन का भेद मिट चुका है। जैसे यदि आप किसी को श्रेष्ठ मानकर पूजा करें और प्रार्थना करें कि भगवान के चरणों में प्रेम दीजिये, उनका दर्शन कराइये। तो जिनसे आप प्रार्थना कर रहें हैं, उसे आपने साधन माना और भगवान को साध्य माना। पर जहाँ सर्वत्र भगवान ही दिखाई दे रहे हैं, तो वह जो प्रणाम या सेवा कर रहा है, वह उसका साधन है या सिद्धि? भरतजी की मधुरता जितनी अद्‌भुत है, उतनी उनकी गहराई अद्‌भुत है। इसलिये जब वे प्रभु से आधार माँगते हैं। बहुधा आप पढ़ते हैं कि मूर्तिपूजा साधारण साधक के लिये उपयोगी है कि वह मूर्ति के सहारे सच्चिदानन्द का साक्षात्कार कर सके। वह भी ठीक है, पर भरतजी क्या उस प्रकार के साधक हैं? वे माँग तो रहे हैं प्रतीक – पादुका, जो देखने में तो वह साधन है, पर भरतजी को लगा – साक्षात् सीताजी और श्रीराम –

भरत मुदित अवलंब लहे तें।
अस सुख जस सिय राम रहे तें।। २/३१६/८

पादुका साधन है और साध्य भी। पादुका साध्य के रूप में साक्षात् भगवान हैं और पादुका-पूजन के द्वारा उन्हें भगवान को नहीं पाना है, अपितु पादुका के रूप में साक्षात् भगवान हैं और भगवान के रूप में भी भगवान हैं। यह तो बहुत ही विलक्षण अद्‌भुत साधना का तत्त्व है। ❖ **(क्रमशः)** ❖

नारदीय भक्ति-सूत्र (५)

स्वामी भूतेशानन्द

(रामकृष्ण संघ के बारहवें अध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्द जी ने अपने १० वर्षों के जापान-दौरों के दौरान वहाँ के करीब ७५ जापानी भक्तों के लिये अंग्रेजी भाषा में, प्रतिवर्ष एक सप्ताह 'नारद-भक्ति-सूत्र' पर कक्षाएँ ली थीं। उन्हें टेप से लिपिबद्ध और सम्पादित करके अद्वैत आश्रम द्वारा एक सुन्दर ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित किया गया है। वाराणसी के श्री रामकुमार गौड़ ने इसका हिन्दी अनुवाद किया है। – सं.)

यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति,
अमृतो भवति तृप्तो भवति ।।४।।

अन्वयवार्थ – **यत्** – जिसे, **लब्ध्वा** – पाकर, **पुमान्** – भक्त **सिद्धः भवति** – पूर्णकाम या पूर्ण हो जाता है, **अमृतः भवति** – अमर हो जाता है, **तृप्तः भवति** – चिर तृप्त हो जाता है।

अर्थ – जिसे प्राप्त करके भक्त का लक्ष्य सिद्ध हो जाता है, वह अमर और चिरतृप्त हो जाता है।

इस भक्ति को पाकर व्यक्ति सिद्ध या पूर्ण हो जाता है। सिद्धि का अर्थ अलौकिक शक्ति भी होता है, पर यहाँ बिल्कुल भी वैसा नहीं है। यहाँ सिद्धि का अर्थ है – वांछित लक्ष्य की प्राप्ति। सिद्ध होकर व्यक्ति वांछित लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। वह वांछित लक्ष्य, केवल भक्ति या ईश्वर ही होना चाहिये, अन्य कुछ भी नहीं।

अलौकिक शक्तियों को भी सिद्धि कहते हैं। भक्ति-पथ पर चलनेवाले भक्त को कभी-कभी ये विशेष शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। भक्त के जीवन में ये सिद्धियाँ कभी-कभी आ सकती हैं, पर भक्त कभी उन्हें अपना लक्ष्य नहीं समझता। यह बात विशेष रूप से विचारणीय है, क्योंकि आम लोगों का विश्वास है कि भक्त में कुछ सिद्धियाँ होनी चाहिये और हम सर्वत्र लोगों को ऐसे साधकों के पीछे दौड़ते हुये पाते हैं, जिसके पास कुछ सिद्धियाँ होती हैं या होने का विश्वास किया जाता है। यह बात स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये कि इन सिद्धियों का भक्ति से कुछ लेना-देना नहीं है। और कभी-कभी तो ये भक्ति में बाधक भी होती हैं। अलौकिक शक्तियाँ होने का अर्थ है कि भक्ति है ही नहीं। या यदि किसी के पास सिद्धियाँ हैं, फिर भी वह उनका कभी उपयोग नहीं करता, तो उसके लिये वे सिद्धियाँ न होने के समान ही हैं, पर जो भक्त जान-बूझकर इनका प्रयोग करता है, वह कभी इस तरह का नहीं होता। अत: भक्त को इस विषय में सजग होना चाहिये कि वह सिद्धियों का अनुसरण करके पथभ्रष्ट न हो जाय। वे भक्त को बहकाकर लक्ष्य-भ्रष्ट कर देती हैं। निरपवाद रूप से ऐसा ही होता है। पर यहाँ एक कठिनाई आ जाती है। महान् धर्मप्राण लोगों तथा सन्तों के जीवन में ऐसी घटनाएँ दीख पड़ती हैं, जिनमें ये सिद्धियाँ प्रकट हो जाती हैं। उदाहरण के लिये ईसा मसीह के जीवन में अनेक अलौकिक घटनाएँ हैं; बाइबिल में ऐसी बहुत-सी कथाएँ मिलेंगी।

श्रीरामकृष्ण के जीवन में भी हम पाते हैं कि एक बार दक्षिणेश्वर में एक आगन्तुक ने उनके कमरे में आकर पूछा – "सुना है यहाँ कोई परमहंस रहते हैं, जो दवाएँ देते हैं। वे कहाँ हैं?" श्रीरामकृष्ण इस पर बड़े क्षुब्ध हुए और बोले – "नहीं, यहाँ नहीं, अमुक स्थान पर जाओ। वहाँ एक जन यह सब करते हैं।" उन्होंने ऐसा क्यों कहा? ऐसी सिद्धियों वाले किसी महात्मा का विचार तक उनके लिये क्षोभकारी था। उसका उल्लेख होते ही श्रीरामकृष्ण अशान्त हो गये थे। श्रीरामकृष्ण ने अनेक अवसरों पर यह कहा है कि आठों सिद्धियों में से एक भी रही, तो व्यक्ति लक्ष्य से दूर होता है।

तो ईसा तथा अन्य सन्तों के जीवन में इन अलौकिक शक्तियों का वर्णन क्यों मिलता है? इसलिये कि हम साधारण लोग इन शक्तियों से प्रेम करते हैं। हम इन शक्तियों को पाने के लिये हमेशा लालायित रहते हैं, या इन शक्तियों के द्वारा हम कोई जागतिक वस्तु पाना चाहते हैं। बीमारी से छुटकारा पाने के लिये जैसे हम बड़े-बड़े वैद्यों-चिकित्सकों को ढूँढ़ते हैं, वैसे ही उसी उद्देश्य के साथ हम साधु-सन्तों को भी ढूँढ़ते फिरते हैं। भक्ति से इसका कोई सरोकार नहीं है। कहते हैं एक साधु थे या साधु कहलाने वाले व्यक्ति थे, जो घुड़दौड़ में जीतनेवाले घोड़े का नम्बर बता सकते थे। उन्हें देखने के लिये लोगों की बड़ी भीड़ लग जाती। लोग आते और वे साधु उन्हें कुछ बता देते। लोग जीतें या हारें, पर इच्छा तो रहती ही थी, इसलिये वहाँ बड़ी भीड़ लग जाती।

वे मुम्बई के पास ही रहते थे और विजेता घोड़े का नम्बर जानने तथा कुछ धन पाने के लिये उनके आश्रम के ठीक सामने प्रतीक्षारत लोगों के कारों की कतारें लग जाती थीं।

क्या भक्ति का इससे कोई सरोकार है? जरा भी नहीं। और भी बहुत-सी बातें हैं। इनसे पता चलता है कि कैसे हम यह समझने में विफल हो जाते हैं कि सच्ची भक्ति क्या है और एक सच्चे भगवद्-भक्त से वस्तुत: हमें क्या अपेक्षा रखनी चाहिये। यह मानवीय दुर्बलता है – हम सदैव किसी साधु से कुछ सांसारिक लाभ पाने का प्रयास करते हैं।

हम जिस सिद्धि की चर्चा कर रहे हैं, वह इस प्रकार की नहीं हैं। इस सिद्धि का अर्थ है – आदर्श की प्राप्ति अर्थात् पूर्णता या पूर्ण ईश्वर-तन्मयता या पूर्ण ईश्वर-शरणागति। सिद्धि से यहाँ अभिप्राय इसी प्रकार की सिद्धि से है। जिसने ऐसी सिद्धि प्राप्त कर ली है, वह सिद्ध बन जाता है, पूर्ण मानव बन जाता है। किस चीज में पूर्णता? उसके ईश्वर-प्रेम में पूर्णता। किसी अन्य अर्थ में पूर्णता नहीं, किसी अलौकिक शक्ति में पूर्णता नहीं, अपितु दिव्य ईश्वर-प्रेम में पूर्णता।

भाव यह है कि प्रेम की प्राप्ति हो जाने पर किसी प्रकार की सीमा नहीं रह सकती। भक्त का ईश्वर-प्रेम असीमित होता है। जैसे ईश्वर असीमित हैं, वैसे ही उनका प्रेम भी असीमित होता है। सिद्धि का यही अर्थ है।

द्वितीयत:, **अमृतः भवतिः** – वह अमर हो जाता है। यहाँ अमरत्व का अर्थ भौतिक सत्ता बने रहना नहीं है। वह तो स्पष्टत: असम्भव है। इसका यह अर्थ नहीं है कि हम जिस देह को सुरक्षित रखने के लिये चिन्तित हैं, वह स्थाई बन जायेगी। अमरत्व का अर्थ हम यह समझते हैं कि अभी के समान ही चिर काल तक जीते रहेंगे। हम यहाँ तक कल्पना करते हैं कि यदि इस भौतिक शरीर में सम्भव न हुआ, तो हम किसी सूक्ष्म शरीर में, स्वर्गस्थ देवताओं और देवदूतों की भाँति अमरत्व का आनन्द प्राप्त करते रहेंगे।

यह कल्पना मात्र है। भक्त ऐसे अमरत्व की कामना नहीं करता। उसका शरीर के प्रति आसक्ति और साथ ही मृत्यु का भय भी पूर्णत: विलुप्त हो जाता है। वह मृत्यु-भय से मुक्त हो जाता है। तो फिर मृत्यु है क्या? मृत्यु का अर्थ है – शरीर, इन्द्रियों, अपने सहज और चिर-परिचित अहं के साथ पृथक्करण। शरीर, इन्द्रियों तथा अहंकार के साथ हमारे सम्बन्ध का अभाव ही मृत्यु है।

भक्त इस अर्थ में अमर हो जाता है कि उसकी जागतिक वस्तुओं के प्रति इस तरह की आसक्ति पूर्णत: लुप्त हो जाती है। अत: उसके लिये मरणशीलता नहीं रह जाती और वह अमर हो जाता है। उसके लिये मृत्यु का भय पूर्णत: चला जाता है। ऐसा इसलिये नहीं कि वह भौतिक रूप से अमर हो जाता है, बल्कि इसलिये कि वह शुद्ध आत्मा हो जाता है, और तब उसे ऐसी चीजों से कोई आसक्ति नहीं रह जाती, जो उसे अशुद्ध बनाती हैं, आबद्ध करती हैं; सीमित, निम्नतर तथा जागतिक वस्तुओं के प्रति आसक्त-सा प्रतीत कराती हैं। अत: उसके व्यक्तित्व का वह पहलू पूर्णतया लुप्त हो जाता हैं और इस कारण वह अमर हो जाता है।

श्रीरामकृष्ण ने एक बार नरेन्द्र (स्वामी विवेकानन्द) से पूछा – '''मान ले कि एक बर्तन रस है और तू मक्खी बना है; तो तू कहाँ बैठकर रस पीयेगा?'' वे बोले, ''किनारे पर बैठकर मुँह बढ़ाकर पीऊँगा।'' श्रीरामकृष्ण इस पर हँसकर बोले, ''क्यों? बीच में जाकर डूबकर पीने में क्या हर्ज है?'' नरेन्द्र ने उत्तर दिया, ''फिर तो रस में डूबकर मर जाऊँगा।'' तब श्रीरामकृष्ण ने हँसते हुए कहा, ''भैया, यह सच्चिदानन्द-रस वैसा नहीं है, यह अमृत-रस है। इसमें डूबने से मनुष्य मरता नहीं, अमर हो जाता है।''[१] भक्ति अमर है और वह अपने रसास्वादक को भी अमर बना देती है। साध्य अमर है और उसका रसास्वादक भी अमर हो जाता है। ऐसा इसलिये है कि वह प्रेम उससे कभी छीना नहीं जा सकता है। वह शाश्वत रूप से उस प्रेम का रसास्वादन करता है। ऐसा क्यों? इसलिये कि यह प्रेम उस व्यक्ति से पृथक् नहीं होता। जब तक वह रहता है, तब तक उसका प्रेम भी रहता है।

इसके कई निहितार्थ हैं। एक तो यह कि जो कुछ भी प्रयत्न द्वारा – हमारे कर्मों के फलस्वरूप – प्राप्त होता है, वह नश्वर होता है। उपनिषद् हमें इसका एक दृष्टान्त देते हैं – एक किसान कुछ फसलें उगाता है। इससे कुछ उपज होती है और उसका उपभोग हो जाता है। इसका निहितार्थ यह है कि हमारे कर्मों के फल निश्चित रूप से अस्थाई होते हैं, निश्चित रूप से समाप्त होते हैं। परन्तु प्रेम हमारे किसी कर्म का परिणाम या फल नहीं है, अत: अन्य कर्म-फलों की तरह यह समाप्त नहीं हो सकता।

तो क्या प्रेम कर्म का फल नहीं है? नहीं। यह केवल हमारी अशुद्धियों को दूर कर देता है, उन पूर्वाग्रहों को दूर कर देता है, जो इस प्रेम की अनुभूति में बाधक हैं। ये सभी अशुद्धियाँ तथा अपूर्णतायें दूर हो जाती हैं और प्रेम प्रकट हो जाता है। प्रेम कभी परिणाम नहीं है। यह चिरन्तन होता है। हम केवल इसका अनुभव कर पाने में असमर्थ हैं। और चूँकि यह परिणाम नहीं है, अत: यह कभी नष्ट नहीं होता।

कोई भी भोग्य विषय जिससे हम प्रेम करते हैं और सुख प्राप्त करते हैं, हमारे ऊपर स्थायी प्रभाव नहीं छोड़ता। हम ज्योंही उससे विरत होते हैं, वह भाव लुप्त हो जाता है। मान लो हम मिठाई पसन्द करते हैं। जब हम मीठी चीजें खाते

१. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, द्वितीय भाग, सं. १९९९, पृ. ७९४

हैं, तो हमें सुख का बोध होता है। परन्तु यह सुख तभी तक सीमित रहता है, जब तक कि इन्द्रियों का बाह्य विषयों के साथ सम्पर्क बना रहता है। इन्द्रिय या बाह्य-विषयों में से किसी एक को हटा देने पर वह सुखबोध भी चला जाता है।

दिव्य प्रेम का स्वरूप ऐसा नहीं होता। इसीलिये कहा गया कि यह स्वाभाविक मृत्यु को प्राप्त होने के लिये किन्हीं बाहरी परिस्थितियों में से उत्पन्न नहीं होता। यह चिरस्थायी और हमारा मूल स्वरूप है। जैसे मैं स्वयं में शाश्वत रूप से विद्यमान हूँ, वैसे ही यह प्रेम भी मुझसे एकाकार होकर मुझमें स्थित है, क्योंकि प्रेम के कारण ही मैं जीवित हूँ। शास्त्रों में कहा गया है – "उस परम प्रेम या आनन्द से ही यह संसार उत्पन्न होता है, उसी में यह समग्र ब्रह्माण्ड स्थित रहता है और अन्ततोगत्वा उसी आनन्द में यह संसार विलीन हो जाता है।[२] यह आनन्द ईश्वर-स्वरूप है और यही दिव्य प्रेम है।

यही परम तत्त्व तथा मेरा मूल स्वरूप है और इसीलिये मैं कभी इससे पृथक् नहीं हो सकता। परन्तु इस समय मैं क्यों उससे पृथक् हूँ? – मैं उससे पृथक् नहीं हूँ, परन्तु अन्य चीजों में व्यस्त होने के कारण मैंने उसे भुला दिया हैं। गहरी निद्रा में हम स्वयं को भूल जाते हैं, तो क्या इसका अर्थ यह है कि हम नष्ट हो गये थे? ऐसी बात नहीं है। क्योंकि यदि हम नष्ट हुये होते, तो हमारी निरन्तरता नष्ट हो जाती, जबकि मुझे याद है कि जाग्रत अवस्था में जो 'मैं' विषयों का अनुभव कर रहा था, वही 'मैं' स्वप्न में भी विषयों का बोध कर रहा था और गहन निद्रा में वही 'मैं' जाग्रत तथा स्वप्न – दोनों ही अवस्थाओं के विषयों के अनुभव से रहित होकर विद्यमान था। कोई भी स्वयं अपने विनाश का बोध नहीं कर सकता, क्योंकि यह एक ऐसी घटना है जिसे एक साक्षी की जरूरत होगी – जानने के लिये किसी अनुभव की जरूरत होगी। इस प्रकार गहन निद्रा पूर्ण विनाश नहीं है। यह एक अवस्था मात्र है। वस्तुत: मैं जाग्रत अवस्था में सीमित रहता हूँ, स्वप्नावस्था में सीमित रहता हूँ और निद्रावस्था में सीमित रहता हूँ; उस सीमा को हटा दीजिये, तो 'मैं' विद्यमान रहेगा वह 'मैं' शाश्वत आत्मा है; यह वही शाश्वत प्रेम है। हमें दार्शनिक पद्धति से इसी निष्कर्ष को समझना होगा।

अत: यह प्रेम कोई बाह्य सत्ता नहीं है, बल्कि अनुभवकर्ता की आत्मा है। यही अत्यन्त महत्व की बात है और तीसरे सूत्र के 'अमृत-स्वरूपा' से यही निहितार्थ समझना होगा।

एक बार इस प्रेम का स्वाद पा लेने पर, इसकी तुलना में व्यक्ति के लिये ऐसा कुछ भी नहीं रह जाता, जिसे वह प्राप्त करने की इच्छा करे। इस अनुभूति में जोड़ने योग्य दूसरी कोई भी अनुभूति नहीं है। यह आनन्द असीम है और इसे किसी वस्तु द्वारा बढ़ाया या घटाया नहीं जा सकता।

तीसरा बिन्दु है – **तृप्तः भवति** – वह सन्तुष्ट हो जाता है। इसका क्या अर्थ है? इसका अर्थ यह है कि वह सभी कामनाओं से मुक्त हो जाता है। पहले अमरत्व का वर्णन हो चुका है और अब यह सहज निष्कर्ष निकलता है कि वह सभी इच्छाओं से मुक्त हो जाता है। तृप्ति या सन्तुष्टि का यही अर्थ है। मान लीजिये हमारे मन में किसी विशेष व्यंजन की इच्छा है। जब हम उसे खा लेते हैं, तो सन्तुष्ट हो जाते हैं। इसका अर्थ है कि उसे पाने की इच्छा पूर्णतया सन्तुष्ट हो गई है और हम कहते हैं कि हम सन्तुष्ट हो गये हैं। इच्छा लुप्त हो जाती है। **तृप्तः भवति** – से यह अर्थ निकलता है कि साधक सभी इच्छाओं से मुक्त हो जाता है।

जब तक कामना बनी रहती है तब तक पूर्ण सन्तुष्टि नहीं हो सकती। हमें चाहे जितनी भी धन-सम्पदा, समृद्धि तथा अन्य वस्तुएँ प्राप्त हो जायँ, यदि मन कामनाओं से भरा है, तो हम कभी सन्तुष्ट नहीं हो सकते। हम तभी सन्तुष्ट होंगे, जब कामनाएँ हमारे मन को छोड़ देंगी। जब व्यक्ति ईश्वर-प्रेम प्राप्त कर लेता है, तो वह सन्तुष्ट हो जाता है, क्योंकि तब उसमें और कोई इच्छा नहीं रह सकती। गीता[३] में कहा गया है कि इसे प्राप्त कर लेने के बाद व्यक्ति संसार में और कुछ प्राप्तव्य नहीं मानता। सन्तुष्टि का यही अर्थ है। हम किसी एक चीज से सन्तुष्ट होकर भी अन्य चीजों के लिये असन्तुष्ट हो सकते हैं। पर भक्त पूर्णत: सन्तुष्ट हो जाता है। उसमें कोई अन्य इच्छा ही नहीं होती, जो उसकी सन्तुष्टि में बाधा डाल सके। इसी कारण यहाँ **तृप्तः भवति** कहा गया है।

इस सूत्र में निम्न विशेषताएँ बतायी गयीं – प्रथमत: सिद्धः भवति, फिर अमृत: भवति और तृप्त: भवति। पहले पूर्णता आती है, फिर स्थायित्व आता है, ताकि सिद्धि-प्राप्ति अस्थायी न रह जाय। मैं अमर होकर भी असन्तुष्ट रह सकता हूँ, अत: तीसरी चीज सन्तुष्टि है। ऐसी भक्ति व्यक्ति को पूर्ण बना देती है, अमर बना देती है, पूर्णत: सन्तुष्ट बना देती है।

जब हम किसी ईश्वर-अनुरागी भक्त को देखते हैं, तो उसमें क्या पाते हैं? हम पाते हैं कि वह पूर्ण है, वह अमर है, वह सन्तुष्ट है। पूर्णता, अमरत्व और सन्तुष्टि की व्याख्या हो चुकी है। भक्ति में तन्मय व्यक्ति में ये विशेषतायें होनी चाहिये। वह न तो उन अलौकिक शक्तियों के लिये आतुर होगा, जिनके लिये हम बेचैन रहते हैं और न ही उन हजारों कामनाओं को अस्थायी सन्तुष्टि के लिये व्याकुल होगा, जिनसे कभी सच्चा सुख नहीं मिल सकता।

❖ (क्रमशः) ❖

२. आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति॥ तैत्तिरीय उप., भृगुवल्ली, ६

३. यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः। गीता, ६/२२

श्रीरामकृष्ण की बोध-कथाएँ

(कथाओं व दृष्टान्तों के माध्यम से अपनी बातें समझाने की परम्परा वैदिक काल से ही चली आ रही है। श्रीरामकृष्ण भी अपने उपदेशों के दौरान अनेक कथाएँ सुनाते थे। यत्र-तत्र बिखरी इन मूल्यवान कथाओं को हम यहाँ धारावाहिक रूप से प्रस्तुत कर रहे हैं। जनवरी २००४ से आरम्भ करके जून २००५ अंक तक और तदुपरान्त अप्रैल २००६ अंक से ये लगातार प्रकाशित हो रही हैं – सं.)

– १३० –

इच्छा मात्र से ही त्याग नहीं होता

मनुष्य इच्छा होते हुए भी आसानी से संसार का त्याग नहीं कर सकता, क्योंकि उसका जीवन पूरी तौर से पिछले जन्मों के प्रारब्ध कर्म और पूर्व संस्कारों के वशीभूत होता है।

एक बार एक राजा किसी योगी से मिलने वन में गया। योगी ने राजा से कहा – "तुम इस वन में रह जाओ और मेरे पास बैठकर भगवान का ध्यान-चिन्तन करो।"

राजा बोला – "नहीं महाराज, यह मुझसे नहीं होगा। अभी भी मेरे भोग बाकी हैं। मैं यहाँ आपके पास रह तो सकता हूँ, परन्तु मेरे मन में विषय-भोग की तृष्णा बनी रहेगी। यदि मैं इस वन में रहूँ, सम्भव है यहाँ भी एक साम्राज्य खड़ा हो जाय।"

– १३१ –

जब त्याग स्वाभाविक हो जाता है

असल बात यह है कि कामिनी-कांचन का त्याग हुए बिना कुछ होने वाला नहीं है। मैंने तीन चीजों का त्याग किया था – जर (रुपये), जोरू और जमीन। गाँव में मुझे कुलदेवता रघुवीर के नाम की जमीन का पंजीकरण कराने के लिए जाना पड़ा था। मुझसे दस्तखत करने के लिए कहा गया। मैंने दस्तखत नहीं किये। मुझे धारणा ही नहीं थी कि यह 'मेरी' जमीन है। रजिस्ट्री आफिसवालों ने केशव सेन का गुरु समझकर मेरा खूब आदर किया था। आम ला दिये, परन्तु उन्हें घर नहीं ले जा सकता था, क्योंकि संन्यासी को संचय नहीं करना चाहिए।

त्याग के बिना कोई ईश्वर को कैसे पा सकता है? यदि एक वस्तु के ऊपर दूसरी वस्तु रखी हो, तो पहली वस्तु को हटाये बिना दूसरी वस्तु कैसे मिल सकती है?

– १३२ –

पूर्ण त्यागी दुर्लभ है

एक भूत अपना साथी खोज रहा था। कहते हैं कि शनि या मंगलवार को दुर्घटना से मृत्यु होने पर व्यक्ति भूत होता है। इसलिए प्रत्येक शनि या मंगल को वह भूत जब देखता कि कोई छत पर से गिरकर बेहोश हो गया है, तो यह सोचते हुए दौड़कर वहाँ पहुँच जाता कि इसकी दुर्घटना में मृत्यु हुई है, अब यह भूत होकर मुझे साथी के रूप में प्राप्त होगा। परन्तु उसका दुर्भाग्य ऐसा कि सब-के-सब बच जाते, उठकर बैठ जाते! उसे कोई साथी नहीं मिलता।

त्याग के बिना ईश्वर नहीं मिलते। पर मेरी बात कोई नहीं लेता। मैं आदमी खोज रहा हूँ, – अपने भाव का आदमी। जिसे अच्छा भक्त देखता हूँ, उसके लिए सोचता हूँ कि वह शायद मेरा भाव ले सके। फिर देखता हूँ, वह एक दूसरे ढंग का हो जाता है।

ब्रह्म का स्वरूप

– १३३ –

नमक का पुतला समुद्र नापने चला

नमक का एक पुतला समुद्र नापने गया! उसे सबको बताना था कि समुद्र का पानी कितना गहरा है! परन्तु खबर देना उसे नसीब नहीं हुआ। क्योंकि वह पानी में उतरते ही गलकर उसके साथ एकाकार हो गया! फिर खबर कौन दे!

जीव भी ईश्वर की थाह लेने, उन्हें जानने जाकर अपना पृथक् अस्तित्व खो बैठता है और ईश्वर के साथ एकरूप हो जाता है। तब 'मैं'-रूपी नमक का पुतला सच्चिदानन्द-रूपी समुद्र में गलकर एक हो जाता है, तब जरा भी भेदबुद्धि नहीं रह जाती। यही ब्रह्मज्ञान है। समाधि अवस्था में ब्रह्मज्ञान होता है। उस अवस्था में – सत्-असत्, जीव-जगत्, ज्ञान-अज्ञान आदि – सब विचार बन्द हो जाता है, सब शान्त हो जाता है, तब केवल 'अस्ति' मात्र रह जाता है। जहाँ अपना 'मैं' खोजे नहीं मिलता – और खोजे भी कौन?

– १३५ –

चार मित्रों का ब्रह्म-दर्शन

एक बार चार मित्र टहलने के लिये निकले। घूमते-फिरते वे लोग एक ऐसी जगह पहुँचे, जो चारों ओर से ऊँची दीवारों से घिरी हुई थी। उनके मन में तीव्र जिज्ञासा हुई कि दीवार के भीतर क्या है। भीतर झाँककर देखने के लिए उनमें से एक किसी प्रकार दीवार पर चढ़ गया। झाँककर उसने भीतर जो कुछ देखा, तो दंग रह गया और – 'हा हा हा हा'

कर हँसते हुए भीतर कूद पड़ा। फिर कोई खबर नहीं दी। इस प्रकार एक के बाद एक जो भी चढ़ा, वही 'हा हा हा हा' कर हँसते हुए भीतर कूद गया ! फिर खबर कौन दे?

ब्रह्म क्या है, यह मुँह से नहीं बताया जा सकता। जिसे उसका ज्ञान होता है, वह खबर नहीं दे सकता। जड़भरत, दत्तात्रेय – ये ब्रह्म-दर्शन के बाद खबर नहीं दे सके थे। ब्रह्म-ज्ञान के बाद समाधि होने से 'अहं' नहीं रह जाता।

तीन मित्रों ने तो कोई खबर नहीं दी। परन्तु चौथे मित्र ने लौटकर सबको बताया। ब्रह्मज्ञान के बाद भी जगत् को शिक्षा देने के लिए अवतार आदि का शरीर रह जाता है।

– १३६ –
ब्रह्मज्ञानी का मौन ही उत्तर है

एक लड़की का पति ससुराल आया है। वह अपनी ही आयु के युवकों के साथ बाहरवाले कमरे में बैठा है। इधर वह लड़की तथा उसकी सहेलियाँ उसे खिड़की से देख रही हैं। सहेलियाँ उसके पति को नहीं पहचानतीं। वे एक की ओर इशारा करके उस लड़की से पूछती हैं – "क्या वह तेरा पति है?" लड़की मुस्कुराकर कहती है – "नहीं।" वे एक दूसरे युवक की ओर संकेत करके पूछती हैं – "क्या वह तेरा पति है?" वह फिर कहती है – "नहीं।" इसके बाद एक तीसरे युवक को दिखाकर वे फिर पूछती हैं – "क्या वह तेरा पति है?" वह पुन: कहती है – "नहीं।" अन्त में उन्होंने उसके पति की ओर इंगित करके पूछा – "क्या वह तेरा पति है?" तब उसने 'हाँ' या 'ना' कुछ भी नहीं कहा; केवल मुस्कुरा कर रह गयी और चुप्पी साध ली ! सहेलियाँ समझ गयीं कि वही इसका पति है।

जिसे ठीक-ठीक ब्रह्म की अनुभूति होती है, वह उसका शब्दों में निरूपण नहीं कर सकता। वह मौन रह जाता है, क्योंकि ब्रह्म मन तथा वाणी के अतीत हैं।

– १३७ –
इन्द्रजाल का खेल - अनेक से एक

शुरू में भक्त ईश्वर को अनेक ऐश्वर्यों तथा उपाधियों से युक्त देखता है, परन्तु वह जितना ही उनकी ओर बढ़ता जाता है, उतनी ही ईश्वर की उपाधियाँ कम होती जाती हैं।

भक्त को पहले दशभुजा के दर्शन हुए। और आगे बढ़ने पर उसने षड़भुजा मूर्ति देखी। और भी आगे जाने पर उसने द्विभुज गोपाल को देखा। वह जितना ही बढ़ता गया, उतना ही ईश्वर के ऐश्वर्य घटते गये। और भी बढ़ा, तो ज्योति के दर्शन हुए – कोई भी उपाधि नहीं थी।

वेदान्त में भी एक विचार है। एक आदमी किसी राजा को इन्द्रजाल दिखाने के लिए आया था। उसके जरा हट जाने पर राजा ने देखा – एक घोड़े पर बड़े रोब-दाब से, हाथ में अस्त्र-शस्त्र लिये हुए एक सवार चला आ रहा है। राजा और उनके दरबारी विचार करने लगे कि इसके भीतर सत्य क्या है? वह घोड़ा तो सत्य नहीं है, वह साज-बाज भी सत्य नहीं है और वे अस्त्र-शस्त्र भी सत्य नहीं हैं। अन्त में उन लोगों ने वास्तविकता देखी – केवल सवार ही खड़ा था और कुछ नहीं। अर्थात् ब्रह्म सत्य है, संसार मिथ्या। विचार करने जाओ, तो और कोई भी चीज नहीं टिकती।

– १३८ –
दर्शन से सन्देह नष्ट हो जाता है

राजा सात फाटकों के पार रहते हैं। किसी को राजा का दर्शन करना था। उसने पहले फाटक पर जाकर देखा – वहाँ एक ऐश्वर्यवान व्यक्ति अनेक लोगों से घिरे बड़े ठाट-बाट से बैठे हुए हैं। जो व्यक्ति राजा को देखने गया था, उसने अपने साथी से पूछा – "क्या ये ही राजा हैं?" उसका साथी थोड़ा मुस्कुराते हुए बोला – "नहीं।" इसके बाद आगे बढ़ने पर उसने आगे के फाटकों पर भी ऐसे ही दृश्य देखे। वह जितना ही आगे बढ़ता गया, उत्तरोत्तर उतने ही अधिक ऐश्वर्य और ठाट-बाट दिखाई देने लगे। वह हर फाटक पर अपने साथी से पूछता – "क्या ये ही राजा हैं?" और हर बार उसका साथी वैसे ही मुस्कुराते हुए कहता – "नहीं।"

पर जब वह सातवें फाटक के पार पहुँचा, तो वहाँ राजा के अतुल ऐश्वर्य को देखकर वह ऐसा हक्का-बक्का रह गया कि उसे अपने साथी से पूछने की जरूरत ही नहीं पड़ी। वह समझ गया कि ये ही राजा हैं, उसे कोई सन्देह नहीं रहा।

गुरु कहते हैं कि आगे बढ़े चलो; ईश्वर का दर्शन होते ही सारे सन्देह दूर हो जायेंगे।

– १३९ –
बहुत्व से एकत्व

एक राजा ने योगी से कहा कि उसे एक ही बात में ज्ञान देना होगा। योगी ने कहा – "ठीक है, ऐसा ही होगा।"

थोड़ी देर बाद वहाँ सहसा एक जादूगर आ पहुँचा। राजा ने देखा – वह सिर्फ दो उँगलियों को घुमाते हुए कह रहा है, "राजा यह देख, यह देख।" राजा विस्मित होकर देखने लगा ! थोड़ी देर बाद दो उँगलियों की जगह एक ही उँगली रह गयी है। जादूगर एक ही उँगली घुमाता हुआ कहता रहा – "राजा, यह देख, यह देख।" अर्थात् ब्रह्म तथा आद्याशक्ति पहले दो प्रतीत होते हैं, परन्तु ब्रह्मज्ञान होने पर दो नहीं रह जाते। रह जाता है – एक ! अभेद ! अद्वैत ! अद्वितीय ! जो ब्रह्म हैं, वे ही आद्याशक्ति हैं।

❖ (क्रमशः) ❖

आत्माराम की आत्मकथा (३२)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने उन्हें संन्यास-दीक्षा प्रदान की थी। भक्तों के आन्तरिक अनुरोध पर उन्होंने बँगला भाषा में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ प्रेरक तथा रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। इसकी पाण्डुलिपि हमें श्रीरामकृष्ण कुटीर, बीकानेर के सौजन्य से प्राप्त हुई है। अनेक बहुमूल्य जानकारियों से युक्त होने के कारण हम इसका क्रमश: प्रकाशन कर रहे हैं। इसके पूर्व भी हम उनकी दो छोटी पुस्तकों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें' तथा 'मानवता की झाँकी' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं – सं.)

अमरनाथ-दर्शन

उस बार खूब वर्षा हुई थी। पंचतरणी तक भीगते रहना पड़ा और गीली मिट्टी पर ही किसी प्रकार रात बितानी पड़ी। पर वह कम्बल रहने के कारण मुझे ज्यादा कष्ट नहीं हुआ। पंचतरणी पहुँचकर लोग घबड़ाने लगे – भयंकर ठण्ड और मूसलाधार वर्षा। बात फैली कि बरफ भी पड़ सकती है, अत: अगले दिन जितनी जल्दी हो सके, अमरनाथ का दर्शन करके भागिये। निश्चित हुआ कि हम लोग भोर में उठ जायेंगे। हमारी टोली में एक नये यात्री आये थे – जो कालाबाग (पेशावर) के व्यवसायी थे। खूब मोटा शरीर और हृदय दुर्बल था। वाहक न मिलने के कारण सबने उन्हें उस पहाड़ की चढ़ाई से मना किया। वहाँ तक वे घोड़े पर आये थे। पर उन्होंने किसी की नहीं सुनी। इतनी दूर तक आकर वे दर्शन किये बिना लौट जायँ, ऐसा हो ही नहीं सकता। भाग्य में चाहे जो भी लिखा हो, पर वे चेष्टा अवश्य करेंगे।

यथासमय भोर में उठकर यात्रा आरम्भ हुई। ढाई-तीन मील की चढ़ाई करने में काफी समय तथा कष्ट हुआ। बीच में वर्षा ने रुककर थोड़ी राहत दी। हम लोग जब अमरनाथ की गुहा के पास झरने में स्नान कर रहे थे, उस समय थोड़ी धूप भी दिखाई दी। नग्नावस्था में स्नान करके अमरनाथ का दर्शन-स्पर्शन आदि किया गया। तब तक भीड़ नहीं हुई थी। खूब आनन्द मिला।

बाहर आकर प्रथानुसार कबूतर देखने के लिये खड़ा था। देखा – मटमैले तथा सफेद दोनों रंगों के कबूतरों का एक झुण्ड और पास में हिमालय का एक बड़ा जल-कुक्कुट जाति का पक्षी। ये तिब्बत और काश्मीर के सरोवरों में रहते हैं। बाद में पूछताछ से ज्ञात हुआ कि उस गुहा के ऊपर कुछ दूरी पर एक छोटा-सा तालाब है और उसके पास ही एक तिब्बती गाँव है। स्वामीजी की पुरानी जीवनी में कबूतरों के बारे में जो लिखा है, वह पुजारियों द्वारा प्रचारित चतुराई है। स्नान करके लौटते समय मठ के कई साधुओं से भेंट हुई।

उतराई शुरू होनेवाली थी, तम्बू उठने के बाद देखा कि वे सज्जन बड़े कष्टपूर्वक ऊपर चढ़ रहे हैं। हम लोगों को देख कर बोले – "अब आ गया हूँ महाराज, उतरने में ज्यादा कष्ट नहीं है। दर्शन करके ही लौटूँगा। सब उनकी दया है!"

हम सभी तम्बू में लौट आये थे। रसोई हो गई थी, परन्तु वे सज्जन तब भी नहीं लौटे थे। संध्या होने ही वाली थी। सबको चिन्ता हुई। दर्शन करके लौट रहे अनेक लोगों से पूछा गया कि उन्होंने किसी ऐसे व्यक्ति को लौटकर आते हुए देखा है क्या? प्राय: सभी ने नकार दिया। आखिरकार देखा गया कि एक व्यक्ति हमारा तम्बू खोज रहे हैं। उन्होंने बताया कि वे सज्जन दर्शन करने के बाद किसी प्रकार पहाड़ पर चढ़ गये हैं, परन्तु वहीं पर प्राय: अचेत होकर लेटे हुए हैं। यथाशीघ्र उन्हें लाने की व्यवस्था कीजिये! अब क्या उपाय किया जाय? निर्णय हुआ कि जल्दी से खा लिया जाय और उसके बाद कोई व्यवस्था की जायेगी, क्योंकि खाली-पेट फिर से वह चढ़ाई करना और उन्हें लाना – ऐसा कष्ट किसी का शरीर झेल नहीं सकेगा। हम साधु लोगों ने पहले ही खा लिया था। और उन लोगों को खाने बैठे देखकर मैंने एक तगड़े पंजाबी साधु से फुसफुसा कर कहा – "चलिये, हम लोग चलें। नहीं तो वह आदमी मर जायेगा। हम लोगों की तो कोई हानि होनेवाली नहीं है। साधुओं का भला है ही क्या? इस अवस्था में हम लोगों का चुपचाप बैठे रहना शोभा नहीं देता। चलिये।"

अब समस्या थी कि उस भारी-भरकम मांसपिंड को लाया कैसे जायेगा? उतराई में, उसे लोई में बैठाकर किसी तरह उतारा जायेगा। जब हम लोग लाठी लेकर तम्बू से निकल रहे थे, हरिशा भोजन करते हुए सहसा कूद दौड़े और हमारे सामने आकर खड़े हो गये – "नहीं, जाने नहीं दूँगा, आप लोगों को जाने नहीं दूँगा। मैं जाऊँगा।" मैंने बहुत समझाया – "आप वृद्ध हैं, गृहस्थ हैं, इस वृद्ध शरीर से इतना कष्ट उठाना सम्भव नहीं होगा। रास्ता छोड़िये और हमें जाने दीजिये।" वे अड़ गये – "आप लोगों को कैसे भी नहीं जाने दूँगा।" इस पर पंजाबी साधु नाराज होकर बोले – "यह तुम्हारा कैसा दुराग्रह है! एक आदमी का प्राण निकल रहा है और तुम भक्तगीरी दिखा रहे हो। रास्ता छोड़ो। जाकर रोटी खाओ।" परन्तु भगत हरिशा टस-से-मस होनेवाले न थे – "चाहे जो कह लीजिये, पर आप लोगों को जाने नहीं दूँगा। मैं ही जाऊँगा।" देखा कि इस जिद्दी व्यक्ति से तर्क-युद्ध से कोई लाभ नहीं है। इन्हीं को क्यों न जाने दिया जाय!

खूब कुहासा था। ४-५ हाथ से आगे कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा था। इसलिये पीछे-पीछे आसानी से चला जा सकेगा। यही सोचकर मैंने उन साधु से कहा – "उन्हीं को जाने दीजिये। तर्क में समय नष्ट हो रहा है।"

हरिशा जल्दी से मुख धोकर लोई लेकर रवाना हुए। आश्चर्य की बात ! इतने सब जवान-जवान अन्य पंजाबी यात्री थे, परन्तु कोई भी नहीं हिला, या किसी ने भी कुछ नहीं कहा और वे ७१-७२ साल के वृद्ध निकल पड़े। हम लोग भी योजना के अनुसार थोड़े बाद ही रवाना हुए। रास्ता अत्यन्त फिसलनदार था, अत्यन्त भयंकर कुहरा छाया हुआ था, ४-५ हाथ से अधिक दिखाई नहीं दे रहा था और खूब ठण्ड थी। होठों पर साँस तक जम जाने की सम्भावना थी। भय हुआ कि यह वृद्ध भी आज जायेगा। वह बोझ लेकर पहाड़ से उतरने में मृत्यु निश्चित था। आदमियों के लिये प्रयास करके भी कोई मिला नहीं, इसीलिये ऐसा हुआ। इस प्रकार सोचते हुए चलते-चलते जब हम लोग बड़े कष्टपूर्वक पहाड़ का आधा भाग चढ़ चुके थे, तभी देखा – भगत हरिशा पहाड़ियों के समान उस वृद्ध को एक लोई में अपने पीठ पर बाँधकर तेजी से उतर रहे हैं। कितना बड़ा आश्चर्य ! इस वृद्ध के शरीर में यह कैसी शक्ति है ! यह क्या मन का बल है !

वे बोले – "आप लोग क्यों आये? मैं ही तो ... ।"

हम लोगों के सहायता के लिये आगे बढ़ने पर उन्होंने कहा – "छोड़ दीजिये, हट जाइये – हम सभी मरेंगे – रास्ता फिसलनदार है – सब मरेंगे – छोड़ दीजिये।"

बात भी सत्य थी। मजबूर होकर पहाड़ से उतराई समाप्त हो जाने तक हम लोग भी साथ-साथ चलते रहे। धन्य हो हरिशा ! धन्य हैं तुम्हारे माता-पिता ! धन्य भगत हरिशा !

वजन को नीचे उतारकर वे बैठ गये। वे सज्जन बेहोश अवस्था में पड़े थे। वे जाकर उन्हें उसी हालत में बाँधकर ले आये। उसके बाद मेरे कहने पर दो लोइयों में उन्हें सुलाकर, एक ओर से हरिशा जी और दूसरी ओर से उसमें लाठी घुसाकर हम दोनों उठाकर तम्बू तक ले आये। इसके बाद दो-तीन घण्टे खूब सेंक देने के बाद उन सज्जन को होश आया। तब मेरे कहने पर थोड़ा-सा गरम-गरम चाय बनाकर उन्हें पिलाया गया। उस रात के समय वहाँ दूध प्राप्त करना अति कठिन था। उन सज्जन को भलीभाँति ढँक-ढाँककर सुलाने के बाद हम लोग भी सोने गये।

सब लोग चुपचाप बैठे देख रहे थे। हरिशा भी एक ओर जाकर चुपचाप बैठे थे। हम लोगों के उठने पर वे भी उठकर मेरे पास आये। बिस्तर पर बैठते ही पाँव पर हाथ लगाया। मैंने कहा – "यह अन्याय है। इतना सब होने के बाद भी यह क्या हो रहा है?" वे बोले – "नहीं, एक बात कहने आया हूँ। (परन्तु हाथों से पाँव दबाना शुरू कर चुके थे)। आप लोग संन्यासी हैं, आपको सेवा के ऐसे अनेक अवसर प्राप्त होंगे, परन्तु मेरे जैसे गृहस्थ को क्या फिर ऐसा अवसर मिलेगा? यदि मेरा शरीर नष्ट हो जाता, तो यह वृद्ध तो हो ही चुका है, इसलिये इसके लिये इससे बढ़कर सौभाग्य की बात और क्या हो सकती है, बोलिये? ऐसे शुभ अवसर से आप मुझे वंचित क्यों कर रहे थे? विशेष करके आप?"

मैं उन्हें जकड़कर बोला – "धन्य भगतजी, धन्य हैं आप ! हम लोग आपको रोकने तो गये नहीं थे। हम अपना संन्यासी का धर्म पालन करने जा रहे थे। इससे आपको सेवा के इस स्वर्णिम सुयोग से वंचित किया जा रहा है – यह बात हम लोगों के मन में जरा भी नहीं थी, भगतजी ! वह व्यक्ति मृत्यु के मुख में झूल रहा है – यह बात सुनने के बाद आप ही बताइये भला किस प्रकार स्थिर रहा जा सकता था? आप इस आयु में ऐसे भाव के साथ गये, लेकिन यहाँ इतने जवान लोग हैं, किसी ने भी तो एक बात तक नहीं कही। आपको जाने से रोका नहीं। अस्तु। हम सभी इस कार्य से बड़े सन्तुष्ट हैं। (सभी बोले – हाँ, हाँ, जरूर !) विशेषकर आपके प्रति मेरी श्रद्धा हजारों गुना बढ़ गयी है। मेरी अमरनाथ यात्रा यहीं सार्थक हुई।" – "अरे, अरे, क्या कहते हैं, क्या कहते हैं !" – कहकर वे चरणधूलि लेने लगे। उन्हें बहुत समझाने के बाद आखिरकार हम लोग सोने गये।

अगले दिन लौटते समय सात मील की चढ़ाई है, अत: हम लोग खूब सोच-विचार कर रवाना हुए। पूरा कैम्प ही चल रहा था। ऐबटाबाद से अमरनाथ के इस सुदीर्घ पथ पर चलते हुए शरीर अत्यन्त दुर्बल हो गया था। और पहाड़ की चढ़ाई करना हो तो खाली या भरे-पेट नहीं करना चाहिये। थोड़ा कुछ खा लेना चाहिये। यह बात ज्ञात होने पर भी व्यावहारिक रूप से नित्य वैसा नहीं हो पा रहा था। पास में पैसे न थे और दिन में केवल एक बार ही टोली के भोजन की व्यवस्था थी। चढ़ाई जब करीब समाप्ति पर आ गयी थी, तभी देखा कि मठ के साधु – मनसा को खूब पसीना आ रहा है और वे बेहोश होने को हैं। उनका दिल जोरों से धड़क रहा था और वे बैठ गये थे। मैंने उन्हें जल्दी से सुला दिया और मालिश करने लगा। इसके फलस्वरूप १५-२० मिनटों बाद वे थोड़ा स्वस्थ बोध करने लगे। उनकी भी गल्ती थी, वे बिना खाये खाली-पेट चल रहे थे। बाद में पता चला कि यात्रा के अन्तिम दिनों में उन्हें ठीक से खाना नहीं मिलता था। एक दिन झगड़े के कारण रोटियाँ नहीं दीं। उस दिन हम लोग जब खा रहे थे, तभी आ जाने पर मैंने उनके लिये रोटियाँ बना दी थीं। तारानाथ म. की दुर्दशा ठीक उस प्रकार की नहीं हुई थी, परन्तु उन्हें अशान्ति से भोगना पड़ा था। बाद में वे उस टोली से अलग हो गये थे। अस्तु।

मनसा को काफी स्वस्थ हुआ देखकर मैं रवाना हुआ, टोली के लोगों को पकड़ना होगा, क्योंकि वे लोग अगली चट्टी को छोड़कर उसके बाद वाली चट्टी में ठहरेंगे। चढ़ाई खत्म होने के बाद ही वह भयंकर खड़ी उतराई ही आधा प्राण ले लेती है। उसी स्थान पर तो बहुत-से खच्चर घायल हो जाते हैं या मर जाते हैं और उन पर लदा माल गिर कर लुढ़कते हुए एक-डेढ़ मील नीचे चला जाता है। इस उतराव के समय उस दिन ऋषिकेश के एक बंगाली साधु पूर्णानन्दजी के एक ग्रेजुएट संन्यासी शिष्य घोड़े समेत गिरकर मर गये। उतार के नीचे दो-एक पूरीवालों की दुकाने थीं। सभी लोग कुछ-न-कुछ खा रहे थे। देखा कि टोली के प्रबन्धक एक व्यक्ति के द्वारा मेरे लिये पूरी-तरकारी की व्यवस्था कर रहे हैं। उसे खाने के बाद ही शरीर में थोड़ा बल आया। हमारे मठ के भाई लोग – सब एक-एक कर आगे निकल गये। सभी जल्दी में थे। मैं मनसा के आने की आशा में था। उसे न आते देख चिन्ता हुई। बाद में पता चला कि वह और भी दो-तीन परिचित साधुओं के साथ धीरे-धीरे उतर रहा है। पड़ाव की ओर चला। रास्ते में बुखार आ गया था, फिर देखा सिर चकरा रहा है, चलना कठिन हो रहा था।

सामने पड़ाव था। किसी प्रकार पहुँचकर सोच रहा था कि कहाँ ठहरा जाय। चटगाँव के साधु भूमानन्द के साथ भेंट हुई। ऋषिकेश में उनके साथ पहले परिचय हुआ था। उन्होंने मेरी हालत देखी और तत्काल साथ लेकर निरंजनी अखाड़े में गये। वहाँ उनके पक्के दालान में व्यवस्था कर दी और गरम-गरम गुड़ की चाय पिलायी। मेरा बुखार सुबह तक उतर गया। मैं अपनी टोली से अलग होकर चलता रहा। शान्तिनाथ जी के तम्बू में जाकर उन्हें पकड़ा। उन्हीं लोगों ने आग्रहपूर्वक स्थान दिया।

इसके बाद मट्टन (मार्तण्ड) में पड़ाव हुआ था। उस दिन एक पण्डे के घर में माधुकरी करने गया – कड़म्बो शाक और भात! खाने के बाद आकर देखा – भयानक तर्क चल रहा है। शान्तिनाथ रो रहे हैं। क. महाराज गरम हैं, शान्तिनाथ भी वैसे ही हैं। मामला क्या है? बोले – गुरुजी ने दम लेकर जो कुछ कहा है, वह सब किसी काम का नहीं है। वैसे भी वे अपढ़ थे। इन्हें यह गुरुनिन्दा करने का क्या अधिकार है? और ऐसा करके किसी को कष्ट भी क्यों देंगे?'' मेरे जाते ही सभी बोले – ''आइये, सुनिये।'' विशेषकर शान्तिनाथजी कहने लगे – ''देखिये, मैं जो कहूँगा, वह मानना होगा।'' और गुरुजी के बारे में उन सब बातों का विरोध होने से चीत्कार करके दबा रखा था। मैंने हँसकर कहा – ''जो तर्क -बल से नहीं मनवाया जा सकता, उसे देह-बल से मनवाना होगा – इसी सूत्र पर भाष्य-टीका चल रहा था क्या?'' शान्तिनाथजी भी हँसे। वातावरण थोड़ा हल्का हुआ।

अगले दिन इस्लामाबाद होकर नाव से श्रीनगर पहुँचे। शान्तिनाथ जी सीतापति महाराज की नाव में गये और बाकी सब लोग एक अन्य बड़ी नाव में गये।

अमरनाथ जाते समय पहलगाम में एक अन्य मजेदार घटना हुई थी, जिसका उल्लेख करना भूल गया था। वह घटना इस प्रकार है – वहाँ सरकारी रसोइये कच्चा-पक्का भोजन पकाते थे और देरी भी करते थे। पहलगाम में पहले दिन तो रात दस बजे तक भोजन ही नहीं बना (सबने सुबह से ही कुछ भी नहीं खाया था)। अन्त में जम्मू के सब-जज शान्तिनाथ जी से मिलने आये और यह सब पता चलते ही अपना रसोइया लगाकर सबके लिये पूरी-तरकारी बनवाकर खिलाया। मैं उन लोगों के साथ बातचीत करने गया था।

दूसरे दिन निश्चित हुआ कि एक बार कैम्प-सुपरिंटेंडेंट को बताना उचित होगा। शान्तिनाथ जी मुझे अपने साथ लेकर गये। उन्होंने कहा – ''बातें आपको ही करनी होगी।'' क्योंकि हो सकता है कि वे ज्यादा कड़ी बात कह बैठें। ठीक है। जाकर देखा – कैम्प-सुपरिंटेंडेंट कुर्सी पर बैठे डॉक्टर के साथ बातें कर रहे हैं। उन्होंने हम लोगों को बैठने के लिये आसन दिया। मैं बोला – ''कृपा करके ऐसा आदेश कर दीजिये ताकि रसोइयों का व्यवहार ठीक हो, साधु लोगों को समय से भोजन मिले और खाना ठीक से पके।'' महाराजा के खास सचिव का हुक्म था कि शान्तिनाथ जी को जो भी आवश्यकता होगी, सब दिया जाय और ध्यान रखा जाय कि उन्हें कोई कष्ट न हो। इसलिये सुपरिंटेंडेंट थोड़ा घूमकर बैठे और हमारे सामने ही एक रसोइये को बुला भेजा। हेड कुक के आते ही वे उसे खूब खरी-खोटी सुनाने लगे – ऐसा क्यों होता है? समय पर क्यों नहीं होता? आदि आदि। ''सब रसोइयों को बुलाओ।'' तीन लोग तत्काल हाजिर हुए। – ''बेंत लाओ।'' बेंत की छड़ी पास ही पड़ी थी। उसे उठाकर हेड कुक को एक बेंत लगा दिया। हेड कुक ने अपने पास खड़े सहकारी को एक थप्पड़ लगाया और सहकारी कुक ने थप्पड़ खाते ही उसी पंक्ति में खड़े दूसरे सहकारी कुक को एक लात मारा। सभी आपस में एक-दूसरे पर दोषारोपण करने और गालियाँ देने लगे। हम लोग तो हँसते-हँसते बेहाल हो गये। इसके बाद उन लोगों को यह चेतावनी देकर विदा किया गया कि आगे और कोई गड़बड़ी नहीं होनी चाहिये। इस मजेदार घटना पर चर्चा उठी। मैं बोला – ''यह गुलामी का निदर्शन है। गुलाम जातियाँ ऐसा ही किया करती हैं। उनमें सहज भाव से अपना दोष स्वीकार करने का साहस नहीं होता और इसके फलस्वरूप वे एक-दूसरे को दोष देते रहते हैं। यदि पास में कोई दूसरा न मिले, तो भाग्य को या फिर और भी ऊपर उठकर भगवान को दोष देते हैं। सभी लोग इसे बारम्बार याद करके हँसने लगे।

क्षीरभवानी-दर्शन

श्रीनगर में पहुँचकर नदी के घाट पर हाथ-मुँह धोने जा रहा था। वहीं अपने पुराने साथियों से भेंट हुई। उन लोगों ने छोड़ा नहीं, अपने साथ धर्मशाले में अपने अड्डे पर ले गये।

यह शरीर बहुत दुर्बल हो गया था, धर्मशाले में दो दिन विश्राम पाकर थोड़ा ठीक हुआ। इसी बीच श्रीनगर के चश्मा-शाही लेक आदि भी देखना हुआ। अपने मठ के भाइयों के साथ वहाँ दुबारा भेंट नहीं हुई। वहाँ से वूलर झील होते हुए क्षीरभवानी के दर्शनार्थ जाने का निर्णय हुआ। चाँदनी रात थी – पहाड़, पर्वत, जंगल – सब मानो चाँदनी में नहा रहे थे। झील के ऊपर, विशेषकर कमल-वन में ज्योत्सना का विचित्र खेल चल रहा था! वहाँ का सौन्दर्य अवर्णनीय था। उसके बाद झील के एक ओर जाने पर देवदार के जंगल से परिपूर्ण एक पर्वत की चोटी थी – मानो एक मन्दिर के शिखर के ऊपर एक और शिखर हो। अरण्य का मन्दिर और फिर उस शिखर पर बरफ की टोपी चमचमा रही है। वह कवि-कल्पना का विषय और चित्रकला द्वारा अंकित करने योग्य दृश्य था। अहा! शिव, शिव! सभी लोग अतृप्त नयनों से उस दृश्य का रसास्वादन कर रहे थे। क्षण भर के लिये भी वाणी को विराम न देनेवाले दो नावों में भरे हुए लोग, बातें करते-करते सहसा बिल्कुल मौन हो गये। शिव, शिव! ॐ! विस्मयपूर्वक निहार रहे थे!

भोर में नावें एक सँकरी नहर में घुसी और अन्त में ठहर गयी। दूसरा रास्ता बहुत दूर से होकर था। अब क्या किया जाय! ठीक हुआ कि सामने की ओर धान के खेत की मेड़ पर आधे मील पैदल चला जायेगा और नावें घूमकर आयेंगी। सामने ही सुन्दर छोटा-सा भवानी का मन्दिर तथा ग्राम दीख रहा है। भगत हरिशा तथा अन्य एक जन ने नेतृत्व सँभाला। खेत के अत्यन्त सँकरे मेड़ से होकर जाना होगा और यह भी ध्यान रखना होगा कि धान की फसल खराब न हो।

अचानक भगत हरिशा और उनके साथी चिल्लाने लगे – "दौड़ो, आओ, बचाओ!" सभी दौड़े, परन्तु सभी के पैरों के नीचे की मिट्टी डगमगाने लगी। सर्वनाश! यह तो दलदल के ऊपर से होकर जाया जा रहा है – नीचे पानी है। मैं चिल्ला उठा – "सावधान, सावधान! सब-के-सब डूबेंगे, यहाँ मिट्टी बहुत कम है। इसके नीचे पानी है – पानी बहुत गहरा भी हो सकता है, इसलिये खूब धीरे-धीरे चलो, घास गुच्छों पर पाँव रख-रखकर चलो। जमीन अधिक हिलने से बिना घबराये पाँव को धीरे से हटाकर एक घास के गुच्छे के ऊपर रख लेना।"

इसी प्रकार हम लोग हरिशा के पास पहुँचे। उन्होंने एक छोटा-सा नाला पार होने के लिये ज्योंही पाँव रखा था, त्योंही उनका एक पाँव पूरी तौर से भीतर चला गया था। उनका छह फीट ऊँचा भारी-भरकम शरीर था। साथी ने उनका एक हाथ पकड़कर खींच रखा था। परन्तु किनारे की मिट्टी गिर रही थी, इसलिये वह जोर नहीं लगा पा रहा था या फिर उन्हें ऊपर खींचने से डर रहा था कि कहीं सब कुछ डूब न जाय।

आखिरकार बाँस की चार लाठियाँ एक साथ नाले के इस पार और उस पार के बीच भगत हरिशा के बगल में रखी गयीं। चार जवान इधर और चार जवान उधर से पकड़े रहे। वे उस पर वजन डालकर पाँव निकाल कर नाले के उस पार पहुँचे। बाकी लोग घास के गुच्छे देखते हुए कूद-कूद कर पार हुए। नाले का पानी गोबर घुले हुए जल जैसे दीख रहा था। जय क्षीरभवानी! जय हो माँ तुम्हारी!

परन्तु तब भी संकट दूर नहीं हुआ था। क्योंकि आगे जहाँ कहीं भी पाँव रखा जाता था, वह नीचे जाने लगता था। आखिरकार धान के पौधों के किनारे-किनारे पाँव रखकर बड़े कष्टपूर्वक गाँव के द्वार पर स्थित कड़ी मिट्टी तक पहुँचा गया। सब लोग यही कह रहे थे – "जय माँ भवानी! आज तुम्हारी कृपा से ही प्राण बच सके हैं।"

भक्तिपूर्वक क्षीरभवानी की पूजा आदि करने के बाद प्रसाद ग्रहण करके उसी दिन शाम को फिर श्रीनगर आ पहुँचे। श्रीनगर में एक दिन रहकर टाँगे से बारामूला की यात्रा हुई। बारामूला में हमारी टोली बँट गयी। आधे से अधिक लोग बस में चढ़कर रावलपिण्डी चले गये। उनमें से हम तीन साधु और आठ गृहस्थ – भगत हरिशा तथा मैनेजर भगतजी पैदल जाने की टोली में रहे। बारामुला में दो दिन विश्राम करने के बाद हम लोग रवाना हुए। मरी तक कोई कष्ट नहीं हुआ। वहाँ दो-एक लोगों की तबीयत खराब हुई थी।

❖ (क्रमशः) ❖

ईशावास्योपनिषद् (४)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने वर्षों पूर्व रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सत्संग-भवन में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन पूना की सीमा माने ने किया तथा वक्ता की पूर्ण सहमति से इसका सम्पादन एवं संयोजन स्वामी प्रपत्त्यानन्द ने किया है।)

पहले ही कहा गया है कि सत्य दो प्रकार के हैं –

१. इन्द्रियों से होने वाले सत्य का ज्ञान – सापेक्ष सत्य

२. इन्द्रियों से परे होने वाला सत्य का ज्ञान – निरपेक्ष सत्य, इन्द्रियातीत सत्य का ज्ञान, इन्द्रियों से अतीत सत्य का अनुभव ही जीवन की पूर्णता है। वही ब्रह्मज्ञान है, वही समाधि है, वही आत्मज्ञान है।

पर अभी हमें जिस सत्य का अनुभव हो रहा है, वह हममें से प्रत्येक के इन्द्रियगम्य संसार के अनुभवों का पुंज है। हमारी पंचेन्द्रियों के द्वारा मन के संयोग से इस बाह्य जगत का जो ज्ञान हो रहा है, वही यह जगत है। यह जगत कैसा है, हम नहीं जानते। हमारी इन्द्रियाँ जैसा बताती हैं, वही हम जानते हैं। हमारी इन्द्रियों से होनेवाले ज्ञान से हमारे मन पर संस्कार पड़ते हैं। हम जो कुछ भी सुनते हैं, चखते हैं, स्पर्श करते हैं, उनके संस्कार हमारे मन पर पड़ते हैं और वे संस्कार स्थायी होते हैं। हमारा मन कैमरा (फोटग्राफी) की तरह है। मन के सामने जो कुछ भी आता है, मन पर उसकी छाप पड़ जाती है और स्थायी रूप से वह रह जाता है। यह जो संस्कार स्थायी रूप से हमारे चित्त पर जमा हो रहे हैं, क्या इन संस्कारों के सम्बन्ध में हमने कभी विचार किया? क्या हमने कभी देखा? अधिकांश तौर से हमको समय नहीं मिलता है और समय न मिलने के कारण हम इसे देखते नहीं हैं। हमारा जो संसार है, वह दो भागों में बँटा हुआ है – १. इदं – जो बाहर का दृश्य जगत यह संसार है। इस बाहर से दिखने वाले संसार से हमें जो अनुभव हो रहा है, वह अनुभव हमारे भीतर है। वह दूसरों को दिखता नहीं, हमको भी नहीं दिखता है। बाहर से आपका जो व्यक्तित्व है, क्या वह आपका सर्वस्व है? आइने के सामने आप अगर खड़े हो जायँ, तो क्या आप यह कहेंगें कि आइने में जितना दिख रहा है, मैं उतना ही हूँ? पर वह थोड़ा-सा ही है। मेरा असल व्यक्तित्व जो मेरे भीतर है, वह कुछ और है, वह दृश्य नहीं है। आप जानते हैं, जो दृश्य है, दिखने वाला है उससे महत्त्वपूर्ण आपका-हमारा भीतर का व्यक्तित्व है। यह कैसे हुआ? यह संस्कारों से हुआ। इन्द्रियों द्वारा, विभिन्न प्रकार के अनुभव हमने लिये और उन अनुभवों ने हमारा एक व्यक्तित्व बना लिया और वह व्यक्तित्व, हमारे लिये इदं है, 'यह' है। 'वह' तो दूर की बात है। उसको समझना जरा कठिन है इसलिये 'यह' से पकड़कर हम समझने की कोशिश करेंगे। 'यह' माने 'मैं'। जब हम अपने व्यक्तित्व का विश्लेषण करके देखते हैं, तो यह बात समझ में आती है कि मेरे व्यक्तित्व में भी भेद है। किन्तु बाहर और भीतर को देखने वाला भेद रहित है, वही सच्चा 'मैं' है। अपने स्वयं के सम्बन्ध में मैं एक का पिता हूँ तो दूसरे का पुत्र हूँ, एक का भाई हूँ तो दूसरे का साला हूँ। जब हमें ये सब भेद दिखने लगे, तो मन में कभी शान्ति, कभी अशान्ति, कभी क्रोध, तो कभी मोह, कभी ईर्ष्या आदि आते हैं। जब हम भीतर के संसार पर कभी दृष्टि डालकर देखते हैं, तो पूर्णता नहीं दिखती। भीतर अनन्त भेद दिखते हैं। पर उपनिषद कहता है कि तुम उसी पूर्ण से निकले हो। तुम वही पूर्ण हो। लेकिन हमारी पूर्णता का तो हमें कोई अनुभव नहीं हो रहा है। तो हम कैसे इस पूर्णता का अनुभव करें? हमारे व्यक्तित्व का, ज्ञान का आधार हमारा आन्तरिक व्यक्तित्व है। जो अन्तर्जगत है, उसी से हमको सभी प्रकार के ज्ञान प्राप्त होते हैं। बाह्य जगत में भी जब हम भुले रहते हैं, तब बाह्य जगत से मिलने वाला ज्ञान भी बिना अन्तर्जगत के हमको नहीं मिल सकता।

उपनिषद कहता है कि पूरा सत्य तुम कब जान सकोगे? जब तुम, वह और यह, भीतर और बाहर को पूर्ण रूप से जान सकोगे, तब वह और यह मिलाकर पूर्ण ज्ञान होगा। अद: और इदं दोनों को मिलाकर जब हम सम्पूर्ण वस्तु को जान सकेंगे, तब सब कुछ जान लेंगे और तब हमारे लिये कुछ भी जानना शेष नहीं रहेगा। तब क्या होगा? हृदय की हमारी सारी ग्रन्थियाँ खुल जायेंगी और इसी जन्म में हम अमरत्व, अनन्त के अधिकारी हो जायेंगे। पर 'यह' अर्थात् अपने को छोड़कर केवल 'वह' अर्थात् परमात्मा को जानने की चिन्ता में पहले से लगे तो कभी नहीं जान सकेंगे। इसलिये कि 'वह' बहुत दूर की बात है। मन, बुद्धि, इन्द्रियों से उस 'वह' की कल्पना नहीं की जा सकती है। वह ईश्वर, पूर्ण है और हम भी पूर्ण हैं। उसको जानने के लिये 'इस' पूर्ण को यदि छोड़ दिया तो हम 'उस' पूर्ण को कभी नहीं जान सकेंगे। इसलिये आइये, 'इस' पूर्ण से प्रारम्भ करें।

हमारे मन में जो इच्छायें हैं, उसके कारण हमें अपूर्णता का बोध हो रहा है। पर उस मन के पीछे कोई पूर्णता भी है क्या? यदि गहराई से हम विचार करेंगे तो हमें अपनी पूर्णता की झलक भी दिखेगी। उदाहरणार्थ हमको बहुत से चीजों

का ज्ञान होता है। जैसे हमने एक फूल देखा। हमने उस फूल को उठाया। उससे सुगन्ध आ रही है। यह गुलाब बहुत सुगंधित है, हमें यह ज्ञान हुआ। उसके स्पर्श से ज्ञान हुआ कि यह फूल तो बहुत नरम है और ताजा है। उसका रंग भी हमें बहुत सुन्दर लगा। हमने फूल की सुगन्ध, उसकी नरमी और उसके रूप का अनुभव किया। विभिन्न इन्द्रियों से अलग -अलग प्राप्त होने वाले ज्ञान को भीतर किसने एक किया? विचार के द्वारा इस भीतर के ज्ञान को एक करनेवाले को पहचानो। हमें केवल स्मरण करना है। जो विस्मृति है, जो भूल गये हैं उसे याद करना है। उपनिषद हमको कहता है कि देखो तुम्हारी आँखों ने इस सुन्दर फूल को देखा, तो क्या आँख उसके सुगन्ध का अनुभव कर सकती है? वह नहीं कर सकती। आँख ने केवल सौन्दर्य का ज्ञान दिया कि यह फूल बहुत सुन्दर है। त्वचा ने नरमी का ज्ञान दिया। पर क्या इस फूल के नरम होने का आभास या अनुभव तुम्हारा कान, आँख, घ्राण करा सकता है? नहीं, ये तीनों नहीं करा सकते। इन तीनों इन्द्रियों ने केवल अलग-अलग सूचना दी है। पर भीतर तीन प्रकार का ज्ञान हुआ क्या? नहीं, तीन प्रकार का ज्ञान नहीं हुआ।? भीतर एक ही प्रकार का ज्ञान हुआ कि बहुत नरम और सुगंधित पुष्प है। यह जो एकत्व-ज्ञान है, विभिन्न इन्द्रियों से जो सूचना मिली है, उसको एक करनेवाला कौन है? उसको एक करने वाला पूर्ण ही है। हमें जिस वस्तु का अनुभव होता है, वह इसी पूर्ण के कारण होता है। यदि इस पूर्ण का हमें ज्ञान हो जाय, तो हम विश्व-ब्रह्माण्ड में व्याप्त पूर्ण को भी जान सकेंगे। यदि सत्य का दर्शन करना हो तो एक अधिष्ठान चाहिये। मनुष्य का हृदय ही सत्य का अधिष्ठान है। यदि हृदय में सत्य प्रतिष्ठित हो जाय तो हमें विश्व-ब्रह्माण्ड के सत्य की भी अनुभूति हो जायेगी। किन्तु जब तक हमारे अपने हृदय में इस सत्य की, इस पूर्ण की अनुभूति नहीं हुई है, तब तक उस पूर्ण का हमें कभी अनुभव नहीं हो सकता। अत: अपनी सारी शक्ति अपने अन्त:करण में सत्य की अनुभूति के लिये लगानी चाहिये।

हमारे पास सीमित शक्ति और समय है। इस सीमित शक्ति और समय के द्वारा हम अपने हृदय में स्थित पूर्णता का अनुभव करने का प्रयत्न करें। हमारा बहुत-सा समय नष्ट हो गया है, जो सबसे निकट है उसे देखने का प्रयत्न हमने नहीं किया। सबसे पास हमारी देह है, शरीर है, किन्तु उससे पास भी हमारा मन है। मन से निकट हमारी बुद्धि है और उससे निकट हमारा स्वरूप है। उस ओर हम कभी नहीं गये। जिस वह से यह प्रगट हुआ है, उस वह को हम भूल गये और यह में फँस गये। इस शरीर को ही हमने यह समझ लिया। 'यह' है क्या? खुली आँखों से जो बाहर दिख रहा है, उसी शरीर को, उसी व्यक्तित्व को हमने अपना सब कुछ समझ लिया और सब कुछ समझने के कारण सारा खेल वहीं समाप्त हो गया। हमने अपनी आँखों के सामने परदा लगा दिया। जो प्रकाश भीतर है उसकी ओर कभी दृष्टि नहीं गयी और भीतर सब अँधेरा ही दिखने लगा और उस वह को हम जान नहीं पाये। यह, इदं क्या है? यह इदं उस पूर्ण से ही निकला है, इसलिये भीतर जो पूर्णता है, उसे ढूँढो।

आइये, पहले देखें, क्या शरीर में पूर्णता है? पूर्णता का एक लक्षण है अपरिवर्तनशीलता। पूर्णता का दूसरा नाम है शाश्वत सत्य जिसमें परिवर्तन न हो। शरीर में परिवर्तन होता है, अत: अपने मन को समझायें कि इस शरीर में पूर्णता नहीं है। जब यह पूर्ण नहीं है, तो आइये और भीतर चलकर मन के बारे में सोचें। मन में शरीर से ज्यादा पूर्णता हो सकती है, ऐसा दिखता है। शरीर दीवार से पार नहीं हो सकता, किन्तु मन दीवार क्या विश्व-ब्रह्माण्ड से भी पार हो सकता है। अत: शरीर से मन बड़ा है। पर हम अनुभव करते हैं कि यह मन भी पूर्ण नहीं है। मन की अपूर्णता भी दिखाई देती है। हम अपने ही मन को पूर्णत: नहीं समझ सकते। हम अपने ही मन को नहीं समझ पा रहे हैं, तो दूसरे के मन को कैसे समझेंगे? कुछ बातें तो मन भी पूर्णत: नहीं समझ पाता है। मन भी परिवर्तनशील है। अत: मन भी अपूर्ण है।

अब आइये, मन से आगे बुद्धि के बारे में सोचें। जो बुद्धि के द्वारा विचार कर अपना जीवन संचालित करते हैं, उनके जीवन में भी अपूर्णता दीख पड़ती है। शरीर के सुखों ने हमें बन्धन में डाला है, मन ने विषयों में हमें बाँध रखा है। उसे छोड़ना होगा। विवेकशील व्यक्ति को लगता है कि कहाँ हम बन्धन में अटक गये। शरीर तो जाने वाला है, अब वार्धक्य आ रहा है, मन तो बहुत दौड़ा है, पर कहीं पहुँच नहीं सका। इसलिये यह समझ में आया कि कहीं भूल हो गयी। फिर यह समझ में आया कि विवेक का भी कोई संचालक है।

श्वेताश्वतर उपनिषद (२/१५) हमें यह बात बताता है –

यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं
दिपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धम्,
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ।।

– जब तुम अपने भीतर आत्मारूपी दीपक को जान जाओगे, तो उस प्रकाश से तुम उस ब्रह्म का दर्शन कर पाओगे। जो 'वह' है, अद: है, जिसके विषय में तुम्हारी कोई धारणा नहीं है, उसको भी तुम जान सकोगे। उसको जान लेने से क्या होगा? वह कभी पैदा नहीं हुआ था। वह तो सदैव है। उसका कभी जन्म नहीं हुआ। वह शाश्वत है। उसमें कभी परिवर्तन नहीं होता है। वह सभी तत्त्वों से शुद्ध है। वह देव जो तुम्हारे भीतर है, उसे जान लेने पर हम सभी पाशों से मुक्त हो जायेंगे। ❖ **(क्रमशः)** ❖

खेतड़ी-नरेश को पुत्रलाभ

स्वामी विदेहात्मानन्द

(अब तक आपने पढ़ा कि कैसे १८९१ ई. में स्वामी विवेकानन्द जी ने उत्तरी-पश्चिमी भारत का भ्रमण करते हुए राजस्थान में भी काफी काल बिताया था। उस समय वे वहाँ के अनेक लोगों – विशेषकर खेतड़ी-नरेश राजा अजीत सिंह के घनिष्ठ सम्पर्क में आये। तदुपरान्त वे कन्याकुमारी तथा मद्रास पहुँचे और वहाँ से अमेरिका जाने की तैयारी करने लगे। बाद में उनकी अमेरिका-यात्रा और सम्पूर्ण जीवन-कार्य में राजस्थान और विशेषकर खेतड़ी-नरेश का क्या स्थान तथा योगदान रहा – क्रमश: इन सभी विषयों पर सविस्तार चर्चा होगी। – सं.)

हम पहले ही बता आये हैं कि १८९१ ई. के अगस्त या सितम्बर में खेतड़ी में निवास करते समय एक दिन महाराजा अजीत सिंह ने स्वामीजी से एक पुत्रप्राप्ति के लिए आशीर्वाद की याचना की थी। लगभग सवा वर्ष बाद २७ जनवरी, १८९३ ई. को[१] पुत्ररत्न के लाभ से उनकी मनोकामना पूरी हुई। खेतड़ी राज्य के लिए एक उत्तराधिकारी प्राप्त होना पूरे राज्य तथा उसकी प्रजा के लिए एक महान् खुशखबरी थी। चूँकि राजकुमार का जन्म आगरे में हुआ था, राजाजी ने खुशी में आगरे में सिकन्दरे के पास से यमुना के तटवर्ती कैलाश देवालय तक लगभग दो मील लम्बा 'कैलाश मार्ग' का निर्माण करवाया था।

राजकुमार के जन्म का समाचार आगरे से तार द्वारा खेतड़ी पहुँचा। खेतड़ी में भी उत्सव का माहौल हो गया। केवल खेतड़ी में ही क्यों, जहाँ कहीं भी वहाँ की प्रतिष्ठित प्रजाजन, अनुरागी मित्र और पुरस्कृत गुणीजन थे, वहीं उन्होंने उत्सव मनाकर अपना आनन्द प्रकट किया और राजकुमार के दीर्घजीवी होने की कामना की। पण्डित लक्ष्मी नारायण लिखते हैं – "मैं कार्यवश बम्बई गया हुआ था। अचानक तार द्वारा राजकुमार के जन्म का समाचार मिला। बम्बई में हर्ष मनाया गया, ... दूसरे दिन सायंकाल की ट्रेन से जब मैंने आगरे के लिए प्रस्थान किया, तब रास्ते में मैंने अहमदाबाद, खैराडी, खारची और अजमेर आदि स्टेशनों पर उत्सव मनाये जाते देखकर आश्चर्यपूर्वक ज्ञात किया कि खेतड़ी-नरेश के राजकुमार के जन्म की खुशी मनायी जा रही है।"[२]

जन्मोत्सव और स्वामीजी की खोज

अत: विशेष धूमधाम के साथ इस 'पुत्रोत्सव' को मनाने का निर्णय लिया गया। परन्तु जिनके आशीष से यह पुत्र जन्मा था, वे उनके गुरुदेव स्वामी विवेकानन्द इस समय कहाँ हैं, यह खेतड़ी में किसी को ज्ञात न था। स्वामीजी को वहाँ से प्रस्थान किये लगभग सवा साल हो चुके थे। यद्यपि बीच-बीच में उनके पत्र आये थे, पर सम्भवत: उनका अन्तिम पत्र मुम्बई से छह महीने पूर्व आया था, उसके बाद से वे कहाँ हैं, इसकी कोई जानकारी राजा साहब को न थी।

राजा साहब की ओर से स्वामीजी की खोज आरम्भ हुई। इसके लिये स्वामीजी के नाम एक पत्र मुम्बई के पते पर भेजा गया। खेतड़ी में उनका अन्तिम पत्र लगभग चार माह पूर्व सम्भवत: मुम्बई से ही आया था, अत: पुत्रजन्म का संवाद तथा पुत्रोत्सव का निमंत्रण उन्हें बम्बई के ही – **बैरिस्टर रामदास छबीलदास** के पते पर भेजा गया। १९९९ में खेतड़ी में मिले कागजातों में एक पत्र श्री रामदास का भी है। उस अंग्रेजी पत्र का अनुवाद इस प्रकार है –

कम्बाला हिल, बम्बई

महोदय, ६ मार्च १८९३

आपका पत्र मिलने के बाद से मुझे स्वामी सच्चिदानन्द से कोई पत्र नहीं मिला है। आपके निर्देशानुसार वह पत्र मैंने अपने पास रखा है। यदि आप चाहें, तो मैं उसे आपको वापस भेज दूँगा। यदि नहीं, तो मैं उसे अपने पास रखूँगा और जब वे यहाँ आयेंगे, तो सौंप दूँगा। मेरा विश्वास है कि उनके यहाँ आने में अब विलम्ब नहीं होगा। रामेश्वर से लौटते समय उन्होंने मेरे पास ठहरने का वचन दिया है। वे कहाँ और कैसे हैं – यह जानने के लिये आप ही के समान मैं भी चिन्तित हूँ। उत्तर कृपया शीघ्र लिखें, क्योंकि मेरा शीघ्र ही बम्बई से बाहर जाने का विचार है।

सेवा में, आपका विश्वस्त
मुंशी जगमोहन लाल *रामदास छबीलदास*

महेन्द्रनाथ लिखते हैं – "राजा साहब ने अपने पुत्र के उत्सव के उपलक्ष्य में स्वामीजी की माता को प्रणामी-स्वरूप १०० रुपये भेजा था।"[३] महेन्द्रनाथ ने इसका प्राप्ति-संवाद तथा पत्र का जो उत्तर लिखा, उस अब तक अप्रकाशित

१. आदर्श नरेश, पं. झाबरमल्ल शर्मा, पृ. ३३५
२. वही, पृ. ३०१-०३
३. स्वामीजीर जीवनेर घटनावली, भाग २, पृ. १८१

अंग्रेजी पत्र का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है –

सेवा में, २-२-१८९३
महामहिम ७, रामतनु बोस लेन
खेतड़ी के महाराजा, राजपुताना सिमला, कलकत्ता

(आपके) पिछले पत्र से यह जानकर मुझे अत्यन्त आह्लाद हुआ कि ईश्वर ने कृपापूर्वक महाराज को एक सन्तान प्रदान किया है और यह जानकर और भी आनन्द हुआ कि वह पुत्र है। यह एक ऐसा सौभाग्य है, जो बड़े भाग्यवान लोगों को ही प्राप्त होता है। महाराज का मुझे इस विषय में सूचित करना उस सौभाग्यजनित सदाशयता का द्योतक है, जिसके कारण हम अपने हृदय के भाव दूसरों के समक्ष व्यक्त करते हैं और अपने आनन्द में दूसरों को भी सहभागी बनाते हैं।

मैंने (वराहनगर मठ के) स्वामीगण को भी इस समाचार से अवगत कराया और उन लोगों ने भी इस पर अपनी हार्दिक प्रसन्नता व्यक्त की। स्वामी रामकृष्णानन्द जी ने विशेष रूप से आनन्द प्रकट किया और शिशु को हर प्रकार से आशीष प्रदान किया। उन लोगों के आशीषों में योग करने योग्य मेरे पास कुछ भी नहीं है। मैं ईश्वर से इतनी ही प्रार्थना करता हूँ कि शिशु को प्रत्येक कदम पर और हर प्रकार से शान्ति, समृद्धि तथा सफलता प्राप्त हो। संक्षेप में, वह भारत का एक (उज्ज्वल) आलोक बने। इस समय मैं जिस आनन्द का अनुभव कर रहा हूँ, उसे व्यक्त कर पाने की क्षमता मुझमें नहीं है।

मैंने आपके **कई पत्रों** पर आगरे का पता देखा। मैं नहीं जानता कि महाराज वहाँ किसी कार्यवश गये हैं या जलवायु-परिवर्तन के लिये। इस विषय में मैं जानने को व्यग्र हूँ।

मेरा स्वास्थ्य (पहले की अपेक्षा) थोड़ा बेहतर है और मैं प्राय: भलीभाँति विश्राम कर पाता हूँ। स्वामी रामकृष्णानन्द जी भी सकुशल हैं।

मैं अपने को सम्मानित महसूस करता हूँ, क्योंकि मैं हूँ
महाराज का परम आज्ञाकारी सेवक
महेन्द्र नाथ दत्त

वराहनगर मठ के संन्यासियों तथा स्वामीजी के भाई महेन्द्रनाथ का खेतड़ी-नरेश के साथ हुए दीर्घ-कालव्यापी पत्र-व्यवहार का हमें प्राप्त होनेवाला यह प्रथम पत्र है। उस काल के अधिकांश पत्र खो चुके हैं। इस पत्र में महेन्द्रनाथ राजाजी से पूछते हैं कि उन्हें प्राप्त होनेवाले कई पत्रों पर आगरे का पता क्यों लिखा है ! इसका निहितार्थ है कि पहले के अधिकांश पत्रों पर खेतड़ी का पता था। इससे भी यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि विगत कुछ काल से और सम्भवत: १८९१ के अन्तिम महीनों (अर्थात् विगत सवा साल से) राजा साहब का वराहनगर मठ के संन्यासियों तथा स्वामीजी के भाई महेन्द्रनाथ से पत्र-व्यवहार चल रहा था।

एक पत्र और भी यहाँ उद्धृत करने योग्य है। गुजरात के भावनगर से ३१ मार्च १८९३ को श्री वजेशंकर गौरीशंकर राजा अजीतसिंह को इस निमित्त बधाई देते हुए लिखते हैं –

भावनगर
महाराज, ३१ मार्च, १८९३

अभी हाल में ही पण्डित गोपीनाथ जी के एक पत्र से आपके एक पुत्र तथा उत्तराधिकारी के जन्म का परम आह्लादकर और स्वागत-योग्य समाचार पाकर मैं अत्यन्त हर्षित हुआ।

इस आनन्ददायी समाचार को पढ़कर मुझे जो अपार आनन्द हुआ, उसको मैं शब्दों में व्यक्त करने में असमर्थ हूँ। मेरा हृदय आनन्दातिरेक से फटा जा रहा है।

यद्यपि मुझे व्यक्तिगत रूप से आपके प्रति सम्मान व्यक्त करने का सौभाग्य नहीं मिल सका है, तथापि मेरे पूजनीय बाबा आदरणीय स्वामीजी श्री सच्चिदानन्द जी को लिखे हुए आपके गम्भीर तथा विद्वत्तापूर्ण पत्रों को पढ़कर मैं अतीव आनन्द का बोध किया करता था।

रियासत की विकट समस्याओं तथा देखरेख के बीच महाराज (आप) वेदान्त-दर्शन के अध्ययन में जो श्रम तथा समय लगाते हैं, वह परम प्रशंसनीय है।

परम शक्तिमान परमात्मा शिशु राजकुमार को अत्यन्त सुदीर्घ आयु तथा एक महिमामय एवं समृद्ध जीवन प्रदान करें, और वह अपने महान् राजवंश का एक आभूषण बने।

मैं हूँ महाराज का परम आज्ञाकारी सेवक
वजेशंकर गौरीशंकर

पुत्रजन्म के बधाई-सूचक उपरोक्त पत्र से ज्ञात होता है कि स्वामीजी खेतड़ी से विदा लेने के बाद अपने गुजरात-भ्रमण के दौरान पत्रों के माध्यम से निरन्तर राजा अजीतसिंह के सम्पर्क में थे, क्योंकि स्वामीजी के भावनगर पहुँचने तक ही उनके पास राजा के कई पत्र आ चुके थे।

महेन्द्रनाथ दत्त का पत्र

हम आगे बता चुके हैं राजा अजीतसिंह प्राय: पत्र लिखकर स्वामीजी के परिवार की खोज-खबर लिया करते थे। इसी प्रकार के एक पत्र के उत्तर में इन्हीं दिनों स्वामीजी के भाई महेन्द्रनाथ का लिखा एक पत्र मिलता है, जो इस प्रकार है –

सेवा में, २८-२-१८९३
खेतड़ी के महाराजा ७, रामतनु बोस लेन
राजपुताना सिमला, कलकत्ता

काफी समय से मैं महाराज का कोई पत्र न पाकर चिन्तित हूँ और नवजात शिशु के स्वास्थ्य के बार में मैं और भी अधिक चिन्तित हूँ, जिनके जन्म ने ही हमें इतना अधिक

हर्षित कर दिया है। मैंने एक पखवारे पूर्व ही पत्र लिखा होता, परन्तु आलमबाजार मठ में महोत्सव के कारण मैं थोड़ा व्यस्त था, इसलिये उस समय लिख न सका। महोत्सव कलकत्ते के पास गंगातट पर स्थित दक्षिणेश्वर में रानी रासमणि के उद्यान-मन्दिर में इसी माह की २६ तारीख को सम्पन्न हुआ। **लगभग १५ दिनों पूर्व मुझे अपने भाई का समाचार मिला था, जो इस समय मद्रास में हैं।** हम सभी कुशलपूर्वक हैं।

नवजात शिशु के, आपके और परिवार के अन्य लोगों के स्वास्थ्य के विषय में समाचार देकर हमें आनन्दित करने की कृपा करें। इस पत्र के द्वारा मैं सभी को अपना प्रणाम तथा दण्डवत और नवजात शिशु को अपनी शुभ कामनाएँ ज्ञापित करता हूँ।

आपका परम आज्ञाकारी
महेन्द्रनाथ दत्त[४]

२८ फरवरी को ही स्वामीजी के गुरुभाई सारदानन्दजी ने भी लिखा है – "बहुत दिनों से नरेन्द्रनाथ के हाथ का लिखा हुआ कुछ मिला नहीं। परन्तु लोगों के मुख से सुना है कि वे रामेश्वर-धाम की यात्रा करने के बाद इस समय मद्रास में निवास कर रहे हैं।"[५] अत: स्वामीजी के परिवार तथा वराहनगर मठ के गुरुभाइयों को तब तक स्वामीजी का कोई पत्र मिला नहीं था, परन्तु लगभग १५ दिनों पूर्व उन्हें सूचना मिली थी कि स्वामीजी मद्रास में ठहरे हुए हैं।

यह सूचना उन्हें किससे मिली? आगे उद्धृत होनेवाले स्वामीजी के १५ फरवरी के पत्र से ज्ञात होता है कि उसके दो माह पूर्व (त्रिवेन्द्रम-निवास के समय) स्वामीजी ने एक स्वप्न में देखा कि उनकी माता का देहान्त हो गया है। मद्रास के उनके मित्र मन्मथनाथ भट्टाचार्य ने कलकत्ते में अपने भाई मनीन्द्रनाथ को एक तार भेजा कि वे स्वामीजी के घर जाकर उनकी माता का हालचाल पता लगायें।[६] यह घटना सम्भवत: फरवरी के प्रारम्भ में हुई थी और लगता है कि उनके भाई मणीन्द्रनाथ के द्वारा ही स्वामीजी के परिवार तथा मठ के गुरुभाइयों को पता चला कि स्वामीजी इस समय मद्रास में मन्मथ भट्टाचार्य के अतिथि-रूप में निवास कर रहे हैं। मणीन्द्रनाथ ने तार भेजकर अपने बड़े भाई को स्वामीजी की माता का कुशलता का संवाद दिया और सम्भवत: स्वामीजी के परिवार के अनुरोध पर खेतड़ी में राजकुमार के जन्म की भी सूचना भेज दी। इसके फलस्वरूप कुछ दिनों बाद ही स्वामीजी ने स्वयं राजा साहब को अपनी मद्रास में उपस्थिति सूचित करते हुए और उन्हें पुत्रलाभ के लिये बधाई देते हुए एक पत्र[७] लिखा और अपने आसन्न यूरोप-अमेरिका यात्रा की सूचना दी। उक्त पत्र का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है –

स्वामीजी का मद्रास से पत्र

मद्रास

महाराज, १५ फरवरी (१८९३)

मैं आपको दो बातें सूचित करने जा रहा हूँ – पहली तो कुम्भकोणम गाँव में देखी हुई एक बड़ी विचित्र घटना है और दूसरी बात स्वयं मुझसे सम्बन्धित है।

उपरोक्त गाँव में चेट्टी जाति का एक व्यक्ति निवास करता है, जिसे आम तौर पर लोग भविष्यवक्ता मानते हैं। दो अन्य युवकों के साथ मैं उससे मिलने गया था। प्रसिद्ध था कि वह मनुष्य के मन की कोई भी बात बता देता है, अत: मैं भी उसकी परीक्षा करना चाहता था। **दो माह पूर्व** मैंने सपने में देखा कि मेरी माँ की मृत्यु हो गयी है और मैं उनके बारे में बड़ा चिन्तित था। मेरी दूसरी जिज्ञासा यह थी कि मेरे गुरुदेव ने (मेरे विषय में) जो कुछ बताया था, क्या वे सही हैं? और तिब्बती भाषा में एक बौद्ध मंत्र के अंश के रूप में मेरा तीसरा प्रश्न उसकी परीक्षा के लिए था। इस **गोविन्द चेट्टी** के पास जाने के दो दिन पहले ही मैंने ये प्रश्न निर्धारित कर लिए थे, (मेरे साथ के) एक अन्य युवक की भाभी को किसी (अज्ञात व्यक्ति) ने जहर दे दिया था, जिससे वह उबर गयी थी, परन्तु वह जानना चाहता था कि यह दुष्कर्म किसने किया है?

हमसे मुलाकात होने पर पहले तो वह व्यक्ति काफी नाराज दिखा। उसने बताया कि मैसूर के दीवान को साथ लेकर कुछ यूरोपीय लोग उससे मिलने आये थे, तभी से उन लोगों की दोषदृष्टि के फलस्वरूप उसे बुखार हो गया है और इस कारण वह हमारे साथ बैठक नहीं कर सकेगा, पर यदि हम दस रुपये देने को राजी हों, तो वह हमारे प्रश्न (तथा उनके उत्तर) बताने को तैयार है। मेरे साथ गये युवक उसकी फीस देने को तैयार थे। वह अपने निजी कमरे में गया और तत्काल आकर बोला कि यदि मैं उसके ज्वर को उतारने के लिए थोड़ी सी भभूत दे दूँ, तो वह हमारे साथ बैठने को तैयार है। मैंने उसे बताया कि मुझमें बीमारियाँ ठीक करने की क्षमता नहीं है, परन्तु वह बोला, "कोई बात नहीं, बस, मुझे भस्म दे दीजिए।" मेरी सहमति के बाद वह हमें अपने निजी कमरे में ले गया। उसने एक कागज पर कुछ लिखने के बाद, हममें से एक को देकर उस पर मेरा हस्ताक्षर करवाया और उसे मेरे एक साथी की जेब में रखवा दिया। इसके बाद वह सीधा मेरी ओर उन्मुख होकर कहने लगा, "एक संन्यासी

४. राजस्थान में स्वामी विवेकानन्द, खण्ड २, पं. झाबरमल्ल शर्मा तथा पं. श्यामसुन्दर शर्मा, दिल्ली, संस्करण १९९१, पृ. ११९

५. बँगला ग्रन्थ 'स्वामी सारदानन्द (जीवन-कथा)', ब्रह्मचारी प्रकाशचन्द्र, बसुमति साहित्य मन्दिर, कोलकाता, १९३६, पृ. ९१

६. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ६, पृ. ७०

७. मूल अंग्रेजी पत्र अंग्रेजी मासिक 'प्रबुद्ध-भारत' के जनवरी '९८ के अंक में प्रकाशित किया गया था।

होकर भी आप क्यों अपनी माता के बारे में चिन्ता कर रहे हैं?'' उत्तर में मैं बोला कि महान् शंकराचार्य ने भी तो अपनी माँ की खोज-खबर ली थी। तब वह बोला, ''वे सकुशल हैं और मैंने उनका नाम आपके मित्र के पास रखे कागज पर लिख दिया है।'' इसके बाद वह कहने लगा, ''आपके गुरु का देहान्त हो चुका है। उन्होंने आपको जो कुछ बताया है, उसमें आपको विश्वास करना चाहिए, क्योंकि वे एक बहुत ही महान् व्यक्ति थे।'' और वह उनका परम अद्भुत ढंग से वर्णन करने लगा और उसके बाद वह बोला, ''अपने गुरुदेव के बारे में आप और क्या जानना चाहते हैं?'' मैं बोला, ''यदि आप उनका नाम बता दें, तो मैं सन्तुष्ट हो जाऊँगा।'' उसने पूछा, ''कौन-सा नाम? संन्यासी के तो कई नाम होते हैं।'' मैंने कहा, ''वह नाम बताइये, जिसके द्वारा वे लोगों में विख्यात थे। उसने कहा, ''वह अद्भुत नाम मैंने पहले से ही लिख दिया है और आप तिब्बती भाषा में एक मंत्र के बारे में जानना चाहते थे, वह भी उस कागज में है।'' इसके बाद उसने मुझसे किसी भी भाषा में कुछ भी सोचकर बताने को कहा। मैंने कहा, ''ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।'' वह बोला, ''यह भी आपके मित्र के पास रखे कागज में लिखा हुआ है। अब उसे निकालकर देख लीजिए।'' और यह बड़ी अद्भुत बात थी! उसने जो कुछ कहा था, वह सब कुछ उसमें था, यहाँ तक कि मेरी माता का नाम भी था। उसमें लिखा था – आपकी अमुक नामवाली माता सकुशल हैं। वे अत्यन्त पवित्र तथा भली हैं, पर आपके वियोग में मृत्यु के समान पीड़ा का अनुभव कर रही हैं। दो साल के भीतर उनका देहान्त हो जायेगा। अत: यदि आप उनसे मिलना चाहते हों, तो दो वर्षों के भीतर ही ऐसा करना होगा।

इसके आगे लिखा था – आपके गुरुदेव रामकृष्ण परमहंस का देहावसान हो चुका है, परन्तु वे सूक्ष्म शरीर में अब भी विद्यमान हैं तथा आपकी देखरेख कर रहे हैं, आदि आदि। इसके बाद तिब्बती भाषा में लिखा था, 'लामाला कैप्सेचुआ' और इसके बाद अन्त में लिखा था, ''मैंने जो कुछ लिखा है, उसके सत्यापन के लिए मैं वह मंत्र भी देता हूँ, जो आप मेरे लिखने के एक घण्टे बाद बतायेंगे – ॐ नमो भगवते वासुदेवाय'' आदि। इसी प्रकार वह मेरे मित्रों के साथ भी सफल हुआ।

इसके बाद मैंने देखा कि दूर दूर के गाँवों से लोग आ रहे हैं और वह उन्हें देखते ही कहता है – ''आपका नाम अमुक है और आप अमुक गाँव से अमुक उद्देश्य से आये हैं।'' मेरे मन की बातें पढ़ते पढ़ते वह काफी नरम पड़ गया था और बोला, ''मैं आपसे पैसे नहीं लूँगा। बल्कि आपको ही मुझसे कुछ 'सेवा' ग्रहण करनी होगी।'' मैंने उसके घर में थोड़ा-सा दूध लिया। वह अपने पूरे परिवार को मुझे प्रणाम कराने ले आया और मैंने उसकी लायी हुई थोड़ी-सी 'विभूति' (राख) का स्पर्श कर दिया। इसके बाद मैंने उसकी इस अद्भुत शक्ति का रहस्य पूछा। पहले तो वह कुछ बताने को राजी नहीं हुआ, परन्तु थोड़ी देर बाद ही वह आकर बोला, ''महाराज, यह देवी सहायता से 'मंत्रसिद्धि' के द्वारा होता है।'' सचमुच ही, जैसा कि शेक्सपियर ने कहा है – ''धरती और आकाश में ऐसी अनेक चीजें है, जिनकी तुम्हारे दर्शनशास्त्र कल्पना तक नहीं कर सकें हैं।''[८]

दूसरी बात स्वयं मुझसे सम्बन्धित है। **रामनाद के एक जमींदार यहाँ मद्रास में ठहरे हुए हैं। वे मुझे यूरोप भेजनेवाले हैं और जैसा कि आप जानते हैं, मुझे भी वे स्थान देखने की बड़ी इच्छा है। इसलिए मैंने यूरोप तथा अमेरिका की यात्रा पर जाने के इस मौके का उपयोग करने का निश्चय किया है।** परन्तु महाराज, इस 'धरती पर आप ही मेरे एकमात्र मित्र' हैं और आपसे पूछे बिना मैं कुछ भी नहीं कर सकता।

इसलिए कृपया इस विषय में आप मुझे अपना अभिमत बतायें। मैं इन स्थानों का एक छोटा-सा दौरा करना चाहता हूँ। एक बात में तो मैं निश्चित हूँ और वह यह कि मैं एक पवित्र एवं उच्चतर शक्ति के हाथों का यंत्र हूँ। जहाँ तक मेरा सवाल है, मुझे शान्ति नहीं है, मैं दिन-रात (वस्तुत:) जल रहा हूँ, पर किसी-न-किसी प्रकार, जहाँ कहीं भी मैं जाता हूँ, सैकड़ों लोग, और मद्रास आदि में कहीं कहीं हजारों लोग, दिन-रात मेरे पास आते हैं और अपने संशय तथा नास्तिकता से मुक्त हो जाते हैं, परन्तु मैं! मैं सदा ही दु:खभोग करता हूँ!! 'जो कुछ होगा, उन्हीं की इच्छा से होगा!!' अत: मुझे नहीं मालूम कि यह शक्ति **यूरोप में** मुझसे क्या कराना चाहती है। मैं आज्ञापालन करने को मजबूर हूँ। 'जो कुछ होगा, उन्हीं की इच्छा से होगा!!' बचने का कोई उपाय नहीं।

महाराज, **पुत्र तथा उत्तराधिकारी के जन्म पर मैं आपको बधाई देता हूँ** और प्रार्थना करता हूँ कि नवजात कुमार अपने परम सज्जन पिता के समान ही हो और प्रभु सदा-सर्वदा उस पर तथा उसके माता-पिता पर आशीषों की वर्षा करते रहें।

अत: **दो या तीन सप्ताह में मैं यूरोप जा रहा हूँ।** अपने इस शरीर के भविष्य के विषय में मैं कुछ नहीं कह सकता। महाराज से मेरी इतनी प्रार्थना है कि यदि आप उचित समझें, तो **मेरी माता का थोड़ा ख्याल करें** कि कहीं वह भूख से पीड़ित न रहे। शीघ्र ही उत्तर पाकर मैं बड़ा आभारी होऊँगा और महाराज से अनुरोध है कि इस पत्र का उत्तरार्ध अर्थात् मेरे इंग्लैंड आदि जाने की बात को गोपनीय रखें।

८. इस घटना के अन्य विवरण (१) विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ६, पृ. ७०; (२) बँगला में 'विवेकानन्द स्वामीजीर जीवनेर घटनावली', महेन्द्रनाथ दत्त, भाग २, पृ. २०४-०८; (३) बँगला ग्रन्थ 'विवेकानन्द ओ समकालीन भारतवर्ष', १९७७, खण्ड १, पृ. ११९-२० (फुटनोट)

आप तथा आपका परिवार आजीवन धन्य हो, दिन-रात मैं यही प्रार्थना निवेदित करता हूँ।

सच्चिदानन्द[९]

द्वारा एम. भट्टाचार्य एस्क्वायर

उप-महालेखाधिकारी, माउंट सेंट थाम, मद्रास

उपरोक्त पत्र से ऐसा निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि (१) १५ फरवरी को स्वामीजी मद्रास में ही थे और मार्च के द्वितीय सप्ताह में यूरोप के लिए प्रस्थान की तैयारी कर रहे थे। (२) २१ फरवरी को स्वामीजी के हैदराबाद से लिखे पत्र का दिनांक सही है, बल्कि उसी पत्र से ऐसा प्रतीत होता है कि २० फरवरी को वे हैदराबाद पहुँचे, अत: कालीचरण चैटर्जी द्वारा लिखित तथा स्वामीजी की जीवनी में वर्णित हैदराबाद-प्रसंग की तिथियों को १० दिन आगे (२० से २७ फरवरी तक) बढ़ाना होगा। (सम्भवत: काली बाबू के हस्तलेख की अस्पष्टता के कारण २ के अंक को १ पढ़ लिया गया था।) (३) इस पत्र से पता चलता है कि स्वामीजी का अगले दो-तीन सप्ताह के भीतर ही इंग्लैंड तथा अमेरिका के लिये रवाना होने का इरादा था। उन्हें श्रीरामकृष्ण से जो दिव्य संकेत मिला था, वह पाश्चात्य देशों को जाने का था, अत: सम्भवत: उनका विचार था कि पहले इंग्लैंड में जाकर कुछ महीने वहाँ लोगों से मिलने-जुलने तथा प्रचार करने के बाद सितम्बर में शिकागो की धर्म-महासभा के आरम्भ होने के पूर्व ही अमेरिका पहुँच जायेंगे। परन्तु जैसा कि हम आगे देखेंगे कि रामनाद के महाराजा द्वारा यात्रा-व्यय देने में हिचकिचाहट और खेतड़ी के महाराजा अजीतसिंह के नीजी सचिव जगमोहन लाल के आ पहुँचने के कारण स्वामीजी को अपनी पूरी कार्य-योजना में बदलाव करते हुए इंग्लैंड जाने की योजना को स्थगित करना पड़ा। और वे अन्तत: ३१ मई को सीधे अमेरिका के लिये रवाना हुए।

स्वामीजी का १५ फरवरी का यह पत्र राजा साहब को एक सप्ताह में ही मिल गया होगा और आगे हम देखेंगे कि उन्होंने तत्काल अपने नीजी सचिव मुंशी जगमोहन लाल को स्वामीजी से अनुरोध करके, उन्हें खेतड़ी लाने के लिये मद्रास भेज दिया, जो उस माह के अन्त में ही वहाँ जा पहुँचे थे।

९. उन दिनों उन्होंने 'सच्चिदानन्द' नाम धारण कर रखा था।

मन्मथनाथ भट्टाचार्य (१८६३-१९०८)

जिन भट्टाचार्य महोदय से स्वामीजी की त्रिवेन्द्रम में भेंट हुई थी और जिनके साथ वे तभी से मद्रास तक लगभग चार महीने बिताये, उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है –

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के उत्तराधिकारी के रूप में १८७७ से १८९५ ई. तक कोलकाता के संस्कृत कॉलेज के प्राचार्य के पद को शोभायमान करनेवाले महामहोपाध्याय महेशचन्द्र न्यायरत्न उनके पिता थे। तीन भाइयों तथा एक बहन के बीच मन्मथनाथ सबसे बड़े थे, बाकी यथाक्रम – मणीन्द्रनाथ, महिमानन्द और बहन मनोरमा।

मन्मथनाथ ने संस्कृत कॉलेज से विद्यारत्न उपाधि के साथ बी. ए. पास किया और प्रेसिडेंसी कॉलेज से गणित में एम. ए.। सम्भवत: काँलेज के दिनों से ही इनका स्वामीजी के साथ परिचय था। १८८५ ई. में वे कलकत्ते में डिप्टी एकाउंटेंट जनरल हुए और उसके बाद मद्रास, लाहौर, रंगून, शिलांग तथा नागपुर आदि स्थानों में उसी पद पर रहे। पहली बार किसी भारतीय के रूप में १९०८ ई. में उन्हें पंजाब का एकाउंटेंट जनरल बनाया गया। उनकी पत्नी का नाम थाकमणि देवी और पुत्री का नाम सरमा (१८८५-१९४७) था। कहते हैं कि कन्याकुमारी में स्वामीजी ने ८ वर्ष की इस बालिका की देवी के रूप में कुमारी-पूजा की थी।

हंटर की पुस्तक का अनुवाद

१८९८ ई. में इन्होंने बेलूड़ मठ आकर स्वामीजी से भेंट की थी और ६ दिसम्बर १९०० के दिन मुम्बई से कलकत्ता यात्रा के दौरान इनकी संयोगवश ट्रेन में स्वामीजी से भेंट तथा एक साथ यात्रा हुई।[१०]

१०. युगनायक ...

❖ (क्रमश:) ❖

(अगले अंक में हम देखेंगे कि किस प्रकार एक पत्रकार के आशंकित करने पर रामनाद के महाराजा ने इस यात्रा-व्यय से अपना हाथ खींच लिया। उधर खेतड़ी-नरेश अजीतसिंह के नीजी सचिव मुंशी जगमोहन लाल का मद्रास आगमन और यात्रा की तैयारी के बाद खेतड़ी की ओर)

चित्र

मन्मथ नाथ भट्टाचार्य का और
राजकुमार का एक चित्र

अपरिग्रह का सुख

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विभिन्न विषयों पर अनेक विचारोत्तेजनक लेख लिखे थे, जो आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

अध्यात्म के साधकों के लिए 'अपरिग्रह' महाव्रत के रूप में रखा गया है । महर्षि पतंजलि ने अपने योगसूत्रों में उसे अष्टांग योग साधन के अन्तर्गत यम के पाँच स्तम्भों में से एक माना है । 'अपरिग्रह' का अर्थ होता है - 'परिग्रह का अभाव'। और 'परिग्रह' का तात्पर्य है - लेना, स्वीकार कर लेना । इस प्रकार अपरिग्रह वह गुण है, जो किसी से भेंट स्वीकार करने का निषेध करता है।

यह तो एक जानी समझी बात है कि जब हम किसी से कोई भेंट ग्रहण करते हैं, तो हमारा मन देनेवाले के प्रति कृतज्ञता का अनुभव करता है और स्वाभाविक ही उससे प्रभावित भी होता है। ऐसा प्रभाव हमारे आध्यात्मिक जीवन के लिए हानिकारक हो सकता है। इसलिए परिग्रह का निषेध किया गया है।

आध्यात्मिक जीवन की बात छोड़ दें, तो सामान्य जीवन में भी, परिग्रह स्वास्थ्यकर नहीं होता । सच्चा स्नेह तथा निःस्वार्थ भेंट संसार में एक विरल बात है । हम अपने अत्यन्त नजदीकी लोगों को प्यार स्वरूप कोई भेंट देते हों, तो उसमें कोई आपत्ति नहीं है, आपत्ति तो तब होती है जब व्यक्ति हमसे कुछ अनुचित कराने के लिए हमें उपहार देता है। ऐसे व्यक्ति से कुछ स्वीकार करना आफत ही मोल लेना होता है। दशहरा-दीवाली में वह हमें कुछ भेंट करना चाहेगा और हम यदि स्वीकार नहीं करेंगे तो कहेगा कि यह तो बच्चों के लिए लेता आया हूँ। अगर हमने भेंट स्वीकार कर ली, तो समझ लीजिए कि हमें परिग्रह के दोष घेर लेंगे और हमारा मन उस भेंट देनेवाले व्यक्ति के द्वारा प्रभावित हो जायेगा । फलतः हम नैतिकता के मानदण्ड को सुरक्षित नहीं रख पायेंगे।

मेरे एक परिचित जिला एवं सत्र-न्यायाधीश थे । बड़े ईमानदार और न्यायपरायण । वे एक किस्सा सुनाते हैं। एक व्यक्ति उनसे परिचित होने के लिए आतुर था । उसने अपनी पत्नी को उस क्लब का सदस्य बना दिया, जहाँ न्यायाधीश महोदय की पत्नी जाया करती थीं। उस व्यक्ति की पत्नी ने न्यायाधीश की पत्नी से मेल-जोल बढ़ाया ।

धीरे धीरे तोहफों और भेंटों का एकतरफा दौर शुरू हो गया । मौका देखकर उस व्यक्ति ने एक दिन न्यायाधीश महोदय से एक मामले पर सहानुभूति का रुख अपनाने का अनुरोध किया । न्यायाधीश ने देखा कि मामला तो निहायत खराब है । अपने इस नये बने मित्र को मदद देने की उनकी इच्छा तो हुई, पर उनके न्यायपरायण मन ने ऐसा नहीं होने दिया और फैसला उस व्यक्ति के विरुद्ध हुआ। तब से उस व्यक्ति का आना-जाना और मेल-मिलाप ही बन्द हो गया । यदि न्यायाधीश महोदय दृढ़ इच्छाशक्ति से सम्पन्न न होते, तो परिग्रह उन्हें ले डूबता।

इस घटना से एक और संकेत मिलता है कि जो लोग किसी स्वार्थवश भेंट देते रहते हैं, उनका स्वार्थ यदि न सधा, तो उनका भेंट देने का क्रम बन्द हो जाता है। परिग्रह में स्वार्थ का यह तत्त्व अनिवार्य रूप से मिला रहता है। इसीलिए नैतिक जीवन बिताने हेतु अपरिग्रह पर इतना जोर दिया जाता है।

'परिग्रह' का एक और अर्थ हिन्दी में रूढ़ हो गया है – वह है 'आवश्यकता से अधिक का संचय' । यह खुला रहस्य है कि जब भी हम आवश्यकता से अधिक कुछ संचय करते हैं, तो दूसरे के हक को मारकर ही ऐसा करते हैं । 'आवश्यकता' की परिभाषा अलग-अलग व्यक्ति के सन्दर्भ में अलग-अलग हो सकती है, पर जो भी अपनी आवश्यकता से अधिक का संचय करेगा, वह दूसरे का अधिकार छीनकर ही वैसा करेगा । इस दृष्टि से भी 'परिग्रह' नैतिक मूल्यों का विरोधी है । यह समाज के सन्तुलन को बिगाड़ देता है । जनता की गरीबी के मूल में देश के शेष लोगों का परिग्रह ही है। अपरिग्रह का गुण ऐसी दूषित मनोवृत्ति के लिए अंकुश का काम करता है और सामाजिक स्वस्थता के लिए उचित वातावरण का निर्माण करता है। ❑

❖ (क्रमशः) ❖
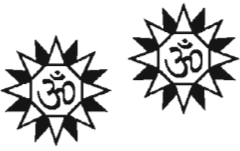
वाराणसी में स्वामी विवेकानन्द (४)
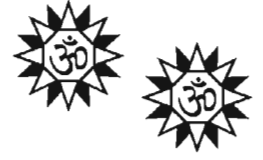
स्वामी सदाशिवानन्द

(स्वामीजी १९०२ ई. में जब अन्तिम बार वाराणसी आये, उस समय हरिनाथ ओदेदार ने साथ रहकर उनकी सेवा की थी। हरिनाथ बाद में संन्यास लेकर स्वामी सदाशिवानन्द हुए। १९२२-२३ ई. में स्वामीजी के छोटे भाई श्री महेन्द्रनाथ दत्त ने उनसे सुनकर इन स्मृतियों को लिपिबद्ध कर लिया था और बाद में 'काशीधामे स्वामी विवेकानन्द' नामक बँगला पुस्तक के रूप में और अंग्रेजी की 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ में प्रकाशित हुई, उन्हीं का हिन्दी अनुवाद 'विवेक-ज्योति' में क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है। – सं.)

हम पुन: चित्रकला के विषय पर लौटते हैं। 'चित्र' शब्द संस्कृत के चित् धातु से बना है। चित्र अर्थात् जो चित् या मन का त्राण या विकास करता है। स्वामीजी ज्योंही अपना मन अपने अन्दर चिदाकाश की ओर उन्मुख करते, त्योंही कला के सारे सिद्धान्त तथा उनके उदाहरण उनके सम्मुख प्रकट हो जाते। और वे तत्काल कला की सारी बारीकियाँ समझ जाते और उनके देखे हुए सारे चित्र उनके मनश्चक्षुओं के समक्ष भासने लगते। वे प्राय: कहा करते – "यदि मैं कोई चीज देखता हूँ, तो वह मेरे मन के अवचेतन क्षेत्र में चला जाता है और जब आवश्यकता होती है, तो पुन: चेतना के स्तर पर आ जाता है।" वे और भी कहते – "जब मैं शंकराचार्य के मस्तिष्क पर ध्यान करता हूँ, तो शंकराचार्य बन जाता हूँ और जब मैं बुद्ध के मस्तिष्क पर ध्यान करता हूँ, तो बुद्ध बन जाता हूँ। जब मैं किसी विषय पर मन को एकाग्र करता हूँ, तो ऐसे भाव तथा विचार मेरे सम्मुख प्रकट हो जाते हैं, जिनके बारे में मैंने पहले कभी सोचा नहीं था। मैं उन्हें देखता हूँ और स्वयं को भूलकर जो मन में आता है, बोलता जाता हूँ। आप सभी जानते हैं कि मैं कोई विद्वान् नहीं, बल्कि एक सामान्य व्यक्ति हूँ!" उन्होंने इंग्लैंड में व्याख्यान देते समय अपनी यह क्षमता प्रदर्शित की थी।

सारे दिन हम लोग स्वामीजी की इसी प्रतिभा के बारे में सोचकर विस्मित होते रहे कि धर्माचार्य होकर भी क्या वे कला, चित्रकला और रंगों के रहस्य पर ही बोलते रहेंगे!

एक अन्य दिन कालीदास मित्र स्वामीजी से मिलने आये। स्वामीजी स्वेटर तथा मोजे पहने हुए और अस्वस्थ होने के कारण वे सामने के तकिये पर दोनों हाथ रखे हुए झुककर बैठे हुए थे और बड़े कष्टपूर्वक साँस ले रहे थे। हम सभी उनके पास ही गलीचे पर बैठे हुए थे। मित्र महाशय ने आकर उनके चरण स्पर्श किये। स्वामीजी बोले – "मेरा स्वास्थ्य टूट चुका है और यह मुझे बड़ा कष्ट दे रहा है।"

मित्र महाशय द्वारा रोग के विषय में पूछे जाने पर उन्होंने उत्तर दिया – "क्या रोग है, यह मैं नहीं जानता। मैंने पेरिस और अमेरिका के कुछ श्रेष्ठ चिकित्सकों को दिखाया, परन्तु न तो वे लोग इसका निदान कर सके और न ही इससे निजात या राहत दिला सके।"

तब मित्र महाशय ने पूछा – "स्वामीजी, हमने सुना है कि आप जापान जा रहे हैं। क्या यह सत्य है?" उन्होंने उत्तर दिया – "जापान सरकार ने इसी उद्देश्य से श्री ओकाकुरा को भेजा है। जापान एक अच्छा देश है। उसने उद्योग को एक कला का रूप दे दिया है और प्रत्येक घर को उद्योग का एक केन्द्र बना दिया है। अमेरिका के मार्ग में मैं जापान गया था। वे लोग बाँस के छोटे-छोटे कुटीरों में निवास करते हैं और प्रत्येक घर में एक सुन्दर पुष्पोद्यान तथा फलों के कुछ वृक्ष रहते हैं। एक राष्ट्र के रूप में वे बड़े ही प्रगतिशील हैं। आखिरकार श्रीरामकृष्ण की इच्छा से यदि मैं जापान गया, तो तुम्हें भी मेरे साथ चलना होगा। जापानी लोगों ने पाश्चात्य सभ्यता (विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी) को स्वीकार कर लिया है। पहले वे लोग बौद्ध थे, परन्तु इस समय वे धर्म के विषय में उदासीन हैं। यदि भारतीय विचार तथा आदर्श जापान में प्रवेश कर जायँ, तो वह और अधिक धार्मिक हो जायेगा। उन लोगों में थोड़ा-सा वेदान्त घुसा देने से वह और भी अद्‌भुत उन्नति करेगा।" मित्र महाशय ने पूछा – "इससे भारत को क्या लाभ होगा?" स्वामीजी ने उत्तर दिया – "इन दो देशों के बीच विचारों तथा सभ्यता के विनिमय से दोनों को आपसी सहायता मिलेगी और दोनों की उन्नति होगी।"

जापान की अद्‌भुत उन्नति के बारे बोलते हुए क्रमश: वे भारत की चरम निर्धनता पर आ गये। उस समय वे अपने स्वास्थ्य तथा रोग आदि सब भूल गये। वे भारत के पतित अवस्था तथा आर्थिक संकट पर दुखी थे। उनका चेहरा विवर्ण तथा पीड़ा से परिपूर्ण हो गया। इसी बीच वे रामप्रसाद का कोई भजन गाने लगे और इससे उनका व्यक्तित्व बिल्कुल ही बदल गया। हम लोगों के मनश्चक्षुओं के समक्ष भी उन भजनों में निरूपित भारतीय भाव सजीव हो उठे और हमारे हृदय में भी अपने देश के लिये पीड़ा की टीस उठने लगी।

स्वामीजी ने जापान की तीव्र उन्नति के बारे में बोलते हुए बताया कि कैसे वह एक सामान्य, सभ्यता तथा संस्कृति से हीन देश से उन्नत होकर एक आत्म-निर्भर राष्ट्र में परिणत हो गया है। वे फ्रांसीसी क्रान्ति तथा नेपोलियन के बारे में बोले। नेपोलियन ने एक साधारण सिपाही होकर भी अपनी आत्मनिर्भरता तथा सुदृढ़ चरित्र के बल पर गौरव के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच गया था। यह विषय उठने पर स्वामीजी के मुख की भाव-भंगिमा एक बार फिर पूर्णत: बदल गयी। वे एक बिल्कुल ही नये व्यक्ति हो गये और मानो नेपोलियन-कालीन फ्रांस में पहुँच गये। अब स्वामीजी उत्साह तथा ऊर्जा से परिपूर्ण हो उठे। उनका मुखमण्डल सुदृढ़, कण्ठस्वर गम्भीर और आँखें विस्फारित तथा तीक्ष्ण हो उठीं। बोलते हुए वे इतने उत्तेजित हो गये कि कभी वे तकिये पर घुटनों के बल बैठते, तो कभी दरी पर और कभी वे उस प्रकार बैठे हुए ही उछल पड़ते। नेपोलियन के बारे में बोलते हुए वे मानो स्वयं ही नेपोलियन हो गये थे। मानो वे स्वयं ही जेना और अस्ट्रेलिट्ज के युद्ध का संचालन कर रहे थे। – "वह देखो – शत्रु – बहुत दूर – वे भाग रहे हैं – उन्हें रोको – पूर्वी ब्रिगेड आगे बढ़ो – एक भी आदमी को युद्धक्षेत्र से जीवित न लौटने दो।" या कभी वे एक हाथ या कभी दोनों हाथ उठाकर आनन्द में काल्पनिक विजय के उल्लास में चिल्ला उठते – "हम लोगों ने युद्ध जीत लिया है, हमारी विजय हुई है।" और फिर विजय के फ्रांसीसी युद्ध-गीत गाने लगते।

स्वामीजी उस समय इतने उत्तेजित और रूपान्तरित हो गये थे कि हम सभी – चारुबाबू, स्वामी शिवानन्द तथा अन्य लोग स्तम्भित रह गये। नौकर-चाकर, माली तथा अन्य सभी लोग जहाँ खड़े थे, वहीं ऐसे सम्मोहित हो गये कि अपने हाथ-पाँव तक नहीं हिला पा रहे थे। स्वामीजी के शरीर से इतना तेज निकल रहा था कि कमरे की वायु तक गरम हो गयी थी और हम सभी मानो जेना और अस्ट्रेलिट्ज के युद्धभूमि में पहुँच गये थे और बाज के समान तीक्ष्ण तेजस्वी नेत्रोंवाले नेपोलियन को देख रहे थे और सेना को दिये जा रहे उनके दृढ़ आदेशों को सुन रहे थे। हम सभी के भीतर वीरता और साहस का का भाव संचरित हो गया और नेपोलियन-रूपी स्वामीजी के नेतृत्व में हम लोग स्वयं ही मार्शल ने, सोल्ट, विक्टर, मारमोंट, मैकडोनाल्ड आदि हो गये थे। हमें विश्वास हो गया था कि हम भी अपने भीतर निहित नेपोलियन की शक्ति से विशाल बाधाओं को पार करके विश्वविजय कर सकते हैं। स्वामी शिवानन्द हम लोगों से बोले – "यही है स्वामीजी की inspired (प्रेरित) वाग्मिता ! यूरोप और अमेरिका में उनके दिये हुए सारे व्याख्यान इसी प्रकार inspired (प्रेरित) अवस्था में हुए थे।"

इसके बाद, भगवान बुद्ध ने सम्बोधि प्राप्त होने के पूर्व शिलाखण्ड पर बैठते समय जो संकल्प लिया था, स्वामीजी 'ललित-विस्तर' ग्रन्थ से उसी उक्ति की आवृत्ति करते हुए स्वयं में उसी भाव को जाग्रत करने का प्रयास करने लगे –

इहासने शुष्यतु मे शरीरं
त्वगस्थिमांसं प्रलयं च यातु ।
अप्राप्य बोधिं बहुकल्पदुर्लभां
नैवासनात् कायमतश्चलिष्यते।।

– "भले ही मेरा शरीर सूख जाय, त्वचा-अस्थियाँ-मांस आदि नष्ट हो जायँ, परन्तु जिसे अनेक युगों में भी प्राप्त करना कठिन है, उस ज्ञान को प्राप्त किये बिना मेरा शरीर इस आसन से विचलित नहीं होगा।"

स्वामीजी के हृदय में अपने गुरुभाइयों तथा गृही अनुरागियों के प्रति असीम प्रेम था। यदि उनमें से कोई बीमार होता या स्वामीजी उसके बारे में कोई दुखद समाचार सुनते, तो वे उसके बारे में अत्यन्त चिन्तित हो उठते। जब तक वे सुन नहीं लेते कि उनकी हालत में कुछ सुधार है, तब तक वे अधीर रहते। ऐसी अनेक घटनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं, अत: उन्हें यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं है।

अन्त में स्वामीजी का स्वास्थ्य बिल्कुल ही बिगड़ गया। वे स्वामी शिवानन्द से कहा करते – "इस भग्न शरीर को जोड़-जाड़कर और कितने दिन रखा जा सकेगा? और मान लो यह शरीर नहीं भी रहा, तो निवेदिता, शशी (स्वामी रामकृष्णानन्द) तथा अन्य लोग मेरे निर्देशानुसार चलेंगे। ये लोग मृत्यु-पर्यन्त मेरा कार्य करेंगे, कभी पीछे नहीं हटेंगे। ये लोग ही मेरी भविष्य की एकमात्र आशा हैं।" इस प्रकार वे बीच-बीच में हम लोगों को आश्वासन तथा आशीर्वाद दिया करते थे।

उन दिनों उनकी प्रेम-भावना तथा सबके प्रति आकर्षण-शक्ति इतनी बढ़ गयी थी कि हमें लगता मानो उनका शरीर भाव-प्रेम तथा सहानुभूति का एक सघन रूप है। उनके होठों से निरन्तर प्रेम तथा आशीष की धारा बहती रहती।

जब हम लोग स्वामीजी के पास जाया करते थे, उस समय हम नहीं जानते थे कि ज्ञान और भक्ति क्या हैं, या फिर ध्यान और कर्म में क्या भेद है। हम तरुण और अनुभवहीन थे। परन्तु हम लोग उनका प्रेम समझते थे और वह प्रेम इस जगत् का नहीं था। हम लोग उनके महान् प्रेम से आकृष्ट हुए थे। जिस किसी ने स्वामीजी को एक बार भी देखा है, वह साक्ष्य देगा कि उसने एक ऐसे व्यक्ति को देखा है, जो प्रेम करना जानते थे और जो जगत् को प्रेम सिखाने आये थे। केवल उनके दिव्य प्रेम के कारण ही कितने ही युवकों ने संन्यासी संघ में सम्मिलित होने के लिये अपना सर्वस्व त्याग दिया है ! आज भी वही प्रेम उन्हें अपना जीवन दूसरों की सेवा में बलिदान कर देने को विवश कर रहा है। ❑❑❑

माँ श्री सारदा देवी (११)

आशुतोष मित्र

यह रचना 'श्रीमाँ' नामक पुस्तक के रूप में १९४४ ई. के नवम्बर में प्रकाशित हुई थी। यहाँ उसके प्रथम तीन अध्याय ही लिये गये हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस अंश का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

काली-पूजा के बाद माँ को भक्तों से जयरामबाटी जाने की अनुमति मिली। माँ की यात्रा का दिन निश्चित हुआ। काली मामा को दो पत्रों में एक ही समाचार लिखा गया कि निर्धारित दिन वे लोगों को लेकर और यदि पालकी मिले तो उसे भी लेकर देशड़ा ग्राम में उपस्थित रहें, ताकि माँ के जाने पर उन्हें किसी प्रकार की असुविधा या कष्ट न हो – यही बात दोनों पत्रों में बार-बार लिखी गयी थी। ये दोनों पत्र दो अलग-अलग दिनों की डाक में डालने का उद्देश्य यह था कि यदि संयोगवश काली-मामा को एक पत्र न मिले, तो दूसरा अवश्य मिल जाय।

अस्तु। निर्धारित समय पर यात्रा करके हम लोग विष्णुपुर, कोतुलपुर तथा देशड़ा ग्राम को पारकर जब मैदान में पहुँचे, तो शाम हो गयी थी। एक ओर तो माँ का स्वास्थ्य बड़ा खराब था, और फिर भाइयों की गृहस्थी में रहने पर उन्हें अत्यधिक परिश्रम करना पड़ता था, इन्हीं कारणों से इस बार उनकी सेवा के लिए गोलाप-माँ और कुसुम भी साथ आयी थीं। विष्णुपुर से हम सभी लोग बैलगाड़ी में देशड़ा तक आये।

देशड़ा के मैदान में पहुँचकर देखा, तो किसी का कोई नामो-निशान तक न था। पालकी की तो बात ही क्या, काली मामा स्वयं भी नहीं दिखे। वहाँ से बैलगाड़ी में जाना हो, तो शिहड़ के मार्ग से घूमकर जाना पड़ता था। और रास्ता बड़ा खराब था – लगातार हिचकोले खाने पड़ते थे। इस प्रकार माँ को ले जाना उचित न था। उन्हें बड़ा कष्ट होगा। वे भी राजी नहीं हुईं। अत: सबकी सहमति से तय हुआ कि बैलगाड़ी में गोलाप-माँ तथा कुसुम को सामान के साथ शिहड़ के रास्ते भेज दें। उसके बाद घर पहुँचकर हम नौकर को सिहड़ भेजकर गाड़ी मँगवा लेगें। और माँ पैदल चलकर देशड़ा का मैदान और नदी के उस पार जयरामबाटी का छोटा मैदान पार कर सकती हैं।

माँ की पूजा-सामग्री के लिए उनके पास छोटा काले रंग का टिन का एक बाक्स था – कहीं जाते समय वे उसमें ठाकुर तथा गोपाल, सिंहवाहिनी की मिट्टी का डिब्बा, जप-माला आदि रखती थी और बच्चों के खिलौने जैसा एक छोटी-सी खाट थी, जिस पर वे ठाकुर को शयन देतीं।

यथानिर्णय गाड़ियों को रवाना करने के बाद मैंने माँ के आदेश पर उनके पूजा का बाक्स और राधू को उठा लिया। परन्तु माँ अकेली चलते हुए कहीं गिर न पड़ें – यह सोचकर मैंने राधू को पीठ पर, पूजा का बाक्स तथा खाट एक हाथ में लिया और दूसरे हाथ से माँ को पकड़कर चलने लगा। छोटी मामी पीछे-पीछे चलने लगीं। रास्ता सभी का खूब जाना हुआ था – सबसे ज्यादा तो छोटी मामी का। थोड़ी दूर जाते-न-जाते छोटी मामी बोल उठीं – "उधर से कहाँ जा रहे हो? इधर से चलो।" माँ मामा के न आने या आदमियों को न भेजने से नाराज थीं और सम्भवत: इसी कारण अन्यमनस्क थीं। वे बोलीं – "ठीक ही तो है, उधर से चलो। छोटी बहू पूरा रास्ता जानती है। वह तो खेतों-मैदानों में घूमती रहती है।" रास्ता मेरा भी भलीभाँति जाना हुआ था, परन्तु उस समय हतबुद्धि होकर मैं उन लोगों द्वारा बताये रास्ते पर ही चलने लगा। इसके फलस्वरूप नदी के घाट के स्थान पर उसके खुले तट पर जा पहुँचा। साथ में रोशनी भी नहीं थी। अन्धकार में यह समझ में ही नहीं आ रहा था कि हम लोग कहाँ आ पहुँचे हैं।

माँ नाराज होकर डाँटने लगीं। मैं बोला – "आप लोग यहीं पर थोड़ा इन्तजार कीजिये, मैं नदी के किनारे-किनारे जाकर घाट देख आता हूँ, उसके बाद साथ ले जाऊँगा।" वे असहमत होकर बोलीं – "हम लोग कहाँ इस तेपान्तर के मैदान में खड़ी रहेंगी, जाने की जरूरत नहीं।" यह कहकर वे डाँटने लगीं और वह डाँट घर पहुँचने तक जारी रही।

वहीं से नदी पार किया गया। नदी में जल नहीं के बराबर था। पार होकर हम चलते रहे। परन्तु यह समझ में नहीं आ रहा था कि हम लोग जयरामबाटी की ओर जा रहे हैं या शिहड़ की ओर। माँ को चलने में कष्ट हो रहा था। चलते-चलते उनकी डाँट भी सुनता जा रहा था – "तुम पुत्र ही क्यों हुए? तुमने हमारी बात सुनी ही क्यों? तुम्हारा स्त्री होना ही अच्छा था।" आदि, आदि। माँ की डाँट से पुत्र का कुछ बिगड़ता नहीं, बल्कि वह पुत्र के लिये हितकर ही होता है।

और उस समय मेरा ध्यान उनकी डाँट की ओर नहीं, बल्कि उनके कष्ट की ओर था।

अस्तु। इसी प्रकार चलते-चलते दूर एक हल्की-सी आलोक-रेखा दिखाई दी। हम सभी चिल्ला उठे – "कौन हो जी, रोशनी ले जा रहे हो? थोड़ा हमारी ओर दिखाओ न। हम लोग रास्ता भूल गये हैं।" वह प्रकाश हमारी ही ओर आने लगा। माँ ने पूछा – "कौन हो तुम?" हाथ में दीपक लिये महिला ने माँ के गले का स्वर पहचान लिया और आते हुए कहा – "कौन, सारू? माँ बोलीं – "कौन, आशु की माँ?" आशु की माँ ने प्रणाम करके माँ के प्रश्न का उत्तर देकर कहा – "बेटा, तुम लोग ठीक ही आये हो, पर थोड़ा तिरछे चलकर आये, इसीलिए गाँव के बाहर आ गये हो।" दीपक हाथ में लिये आशु की माँ रास्ता दिखाती हुई चलने लगी। दो-तीन मिनट में ही हम गाँव में जा पहुँचे।

घर में पहुँचते ही माँ ने भावजों से पानी माँगा। बरामदे में बैठकर एक लोटा पानी पीया। इसके बाद नौकरों को गाड़ी की खोज में भेजकर काली-मामा को डाँटने लगीं। काली-मामा ने पत्र मिलने की बात स्वीकार की और नौकरों को न भेजने के विभिन्न कारण बताने लगे। – पालकी मिली नहीं। आदि, आदि। घण्टे भर में नौकर गाड़ी लेकर लौट आये। इस बीच माँ थोड़ी स्वस्थ हुईं और यह कहकर कि सन्तान को डाँटा है – उसके सिर पर हाथ फेरने लगीं। उसने भी माँ की चरणधूलि लेकर सिर पर धारण किया।

गोलाप-माँ एक दिन माँ के सामने बैठकर सारदा महाराज (स्वामी त्रिगुणातीत) के बारे में बताने लगीं – "एक बार योगेन (योगीन-माँ) ने सारदा को माँ के लिए खूब तीखी मिर्च लाने को कहा। सारदा ने बागबाजार से शुरू किया और मिर्चों को चखता हुआ सभी दुकानों पर गया कि मिर्च तीखी है या नहीं? इसी प्रकार चखते हुए तीखी मिर्च न पाकर वह बड़ाबाजार तक पहुँच गया। वहाँ तीखी मिर्च पाकर वह दो पैसे की खरीद लाया। इतनी देर में उसकी जीभ फूलकर ढोल-सी मोटी हो गयी थी। बाबा, क्या ही गुरुभक्ति है।"

एक दिन माँ ने स्नान के बाद एक घड़ा पानी लाकर बरामदे में रखा। पता चला कि उन्होंने भी अन्य बालिकाओं की तरह बचपन में घड़ा पकड़कर तैरना सीखा था।

माँ वृन्दावन से एक पीतल का गोपाल ले आयी थीं। हम लोगों ने नित्य इस गोपाल को माँ के ठाकुर-सिंहासन पर देखा है। एक बार उन्होंने इस विषय में कहा था – "शुरू में इसे ऐसे ही रख दिया था। एक दिन सोयी थी। देखा – वह घुटने के बल चलते हुए खाट के पास आकर कह रहा है – मुझे ले आयी और ऐसे ही रख दिया, क्या मुझे भूख नहीं लगती? खिलाओगी नहीं?" सुनकर मैं बोली –"नहीं बेटा, खिलाऊँगी क्यों नहीं !" तभी से इसे भी भोग देना पड़ता है।

स्वामीजी की भक्त – तीन अमेरिकी महिलाएँ अमेरिका से माँ को पत्र लिखा करती थीं। वे लिफाफे के ऊपर (वर्तमान) लेखक का नाम-पता और भीतर माँ को सम्बोधित करके पत्र लिखा करतीं। लेखक उनका अनुवाद करके, माँ यदि गाँव में रहीं, तो वहीं भेज देता और कलकत्ते में रहीं, तो पढ़कर सुना देता। फिर माँ के आदेशानुसार उनके उत्तर लिख देता।

माँ के ऐसे ही एक पत्र का थोड़ा-सा अंश नमूने के तौर पर उद्धृत कर रहा हूँ। यहाँ बता देना उचित होगा कि माँ उस समय गाँव में और लेखक कलकत्ते में था।

पुत्र आशु, तुम देवमाता[३८] को मेरा आशीर्वाद लिखना और जया[३९] को भी मेरा आशीर्वाद देना। और जिसने मुझे चन्दन की लकड़ी का बक्सा दिया था, उसे भी मेरा आशीर्वाद कहना। लिखना – माँ ने तुम लोगों को आशीर्वाद दिया है। और देवमाता, जया तथा जिसने बक्सा दिया है, उन्हें जो लिखना हो, मेरा नाम देकर लिख देना।

आशीर्वादिका – तुम्हारी माँ। "

माँ को गठिया के कारण इतना कष्ट होता कि वे जो कोई जो कुछ कहता, वही करतीं – दवा या दैव, सब कुछ। निम्नलिखित पत्र इसका एक दृष्टान्त है। वात के कारण बहुत कष्ट पा रही हैं, यह जानकर लेखक ने लिखा कि वह उन्हें गाँव से कलकत्ता लाने जायेगा। इस पर उन्होंने लिखा था –

"मेरे पैरों का वात कुछ कम लग रहा है। उसका कारण यह है कि यहाँ सत्यनारायण की दवा ले रही हूँ। इसीलिए कुछ विशेष फायदा लग रहा है।"

एक अन्य समय वात में वृद्धि होने पर शरत् महाराज ने कलकत्ते से मुझे लिखा। मैं उस समय जयरामबाटी में था। – "माँ के वात के बारे में सुनकर मैं चिन्तित हूँ। कुछ कम हुआ या नहीं, लिखकर निश्चिन्त करना। शीघ्र ही एक छोटी शीशी में बाघ की चर्बी का तेल भेजूगा। सुना है यह वात में बड़ा लाभकारी होता है। इसका मालिश किया जाता है। उनके यहाँ से जाने से सब सूना हो गया है। यदि फाल्गुन में उन्हें यहाँ ला सको, तो बड़ा अच्छा होगा। अभी से वात बढ़ा है, तो जाड़ों में न जाने कितना कष्ट होगा !" कलकत्ता २७/११/१९०९।

डॉक्टर काँजीकाल और ललित का माँ के प्रति अतिशय स्नेह का आभास पहले ही काफी दिया जा चुका है। वस्तुत: दोनों ही माँ के अति प्रिय शिष्य थे। ललित की बीमारी का समाचार पाकर माँ कैसी चिन्तित हो गयी थीं, इसे लेखक को लिखित उनके निम्न दो पत्रांशों से समझा जा सकता है –

(१) ललित की बीमारी की खबर सुनकर मुझे कितना कष्ट हो रहा है, इसे लिखकर नहीं बताया जा सकता। इस

३८. कु. लारा ग्लेन ३९. कु. जोसेफीन मैक्लाउड

समय मैं उसके लिए ठाकुर से प्रार्थना करती हूँ कि वह शीघ्र स्वस्थ हो उठे। मेरी यही प्रार्थना है।''

(२) और, ललित कैसा है लिखना।''

एक बार मित्र काँजीलाल के साथ लेखक जयरामबाटी गया। अन्य सामानों के साथ ही वह माँ की असुविधा एवं व्यस्तता को कम करने हेतु डॉक्टर के लिए चाय, विलायती दूध, चीनी, मैदा, घी, सूजी आदि भी ले गया था। डॉक्टर गाँव के पीड़ितों के लिए कुछ दवाइयाँ भी ले गये थे।

डॉक्टर को देखकर माँ के आनन्द की सीमा न रही। जब यह बात फैली कि कलकत्ता मेडिकल कॉलेज के डॉक्टर आये हैं, तो दूर-दूर के गाँवों से बहुत-से लोग आने लगे। इस पर माँ को कहते सुना जाता – ''मेरा गुणी लड़का आया है – लोग आयेंगे क्यों नहीं?'' अनेक लोगों का उपकार हुआ। गुरुगृह में कई दिन आमोद-प्रमोद में तथा परोपकार में बिताकर (डॉक्टर) कलकत्ते लौटे। लौटते समय वे कुछ विलायती पेटेंट दवाएँ रख गये, ताकि वे लोगों के काम आ सकें। माँ गाँव के बाहर तक आकर उन्हें विदा दे गयी।

मित्र डॉक्टर काँजीलाल कलकत्ता जाने के एक दिन पूर्व दोपहर में लेखक से बोले – ''चलो भाई, माँ को पकड़ें।'' और उसे खींचते हुए माँ के कमरे ले गये। मित्र कहने लगे – ''माँ, ठाकुर ने ढाई* छूने की बात कही है ...।'' वे कुछ और भी कह रहे थे कि माँ बोल उठीं – ''हाँ बेटा, वह तो तुम लोगों का हुआ है। तुम लोगों को चिन्ता क्या है?''

डॉक्टर – माँ, आप लोग जैसे दया करती हैं, वैसे ही भुलावा भी दिये रहती हैं। मैं आपको छूता हूँ, आप कहिये कि हम लोगों को कोई चिन्ता नहीं, उद्धार हो जायेगा !''

माँ (सहास्य) – ''हाँ, बेटा, तुम लोगों का भार तो ठाकुर ने लिया है – तो फिर चिन्ता ही क्या है?''

डॉक्टर – ''और हम लोग यदि बहुत बुरे हों तो?''

माँ – ''बच्चे टट्टी-पेशाब करें, तो माँ धो-पोंछ लेती है।''

डॉक्टर – ''तो फिर हम लोग निश्चिन्त रहें?''

माँ – ''हाँ बेटा। देख लेना।''

डॉक्टर माँ से तीन बार कहलवा कर माने।

ज्ञानेन्द्रनाथ (डॉ. काँजीलाल) के चले जाने के कई दिन बाद माँ को बुखार आया। दो दिन उन्होंने बुखार पर ध्यान ही नहीं दिया और उसके बारे में किसी को बताया भी नहीं। तीसरे दिन सुबह उन्हें न देखकर उनके कमरे में जाकर देखा – रजाई ओढ़कर लेटी हुई हैं। शरीर थोड़ा गरम था। नाड़ी तेज थी। उन्हें ठण्ड लग रही थी। वे राधू से बोली – ''मेरे पास रहने से तुझे भी बुखार हो जायेगा। जा, अपनी मुंडी-माँ[४०] के पास चली जा।''

राधू के बारे में हमने अभी तक कुछ बताया नहीं। वह माँ के छोटे भाई अक्षय-कुमार और पगली (छोटी) मामी की बेटी थी। पिता की मृत्यु के समय वह मातृगर्भ में थी, अत: उसने अपने पिता को नहीं देखा था। उसके बचपन अर्थात् छोटी मामी के दिमाग खराब होने के बाद से ही माँ ने बाध्य होकर उसके पालन-पोषण का भार स्वयं पर ले लिया था। राधू का मूल नाम राधारानी था। माँ और छोटी मामी उसे 'राधू' या 'राधि' कहकर बुलाती थीं। शरत् महाराज से सुना है – ठाकुर या श्रीमाँ का शरीर बिना किसी अवलम्बन के नहीं टिक सकता था। राधू के न रहने पर माँ इस मर्त्य जगत् में इतने दिनों तक नहीं रह पातीं। बचपन से ही 'श्रीमाँ' के द्वारा ललित-पालित होने के कारण राधू उन्हीं को 'माँ' और अपनी गर्भधारिणी को 'मुंडी-माँ' कहती थी।

उस दिन, दिन चढ़ने के साथ-साथ धीरे-धीरे माँ का ज्वर बढ़ता गया और शाम तक उन्हें रजाई ओढ़नी पड़ी। तो भी ठण्ड लग रही थी। बहुत कहने पर भी सारे दिन उन्होंने कुछ नहीं खाया। एक बार पूछा – आज कौन-सी तिथि है? 'एकादशी' – सुनकर बोलीं – ''एकादशी का बुखार भुगवायेगा।''

लगभग आधी रात को बुखार ने भयानक रूप धारण कर लिया। नाड़ी खूब तेज चल रही थी। शरीर इतना गरम था कि हाथ नहीं रखा जा सकता था। मैं बड़ा चिन्तित हो उठा। इससे पहले भी कई बार माँ को बुखार में देखा है, पर ऐसे भीषण रूप में कभी नहीं देखा था। मैं डर गया। काँजिलाल के चले जाने के कारण मन-ही-मन खेद करने लगा। ऐसी जगह, जहाँ डॉक्टर भी नहीं है ! आनुड़ के नगेन डॉक्टर कैम्पबेल पास तो हैं, पर उनके पास भी तो दो-चार तरह के फिवर और कुनैन मिक्सचर के सिवा अन्य कोई दवा नहीं है। पास में चिकित्सालय भी नहीं, जहाँ से दवा लिखवाकर मँगा लिया जाय। क्या शरत् महाराज को तार करूँ? पर उस तार के जाने और उनके डॉक्टर लेकर आने में कई दिन लग जायेंगे। इस प्रकार खूब सोचने के बाद भी कुछ निश्चित न कर पाने पर मैं किं-कर्तव्य-विमूढ़ होकर रोने लगा।

रात का तीसरा पहर लगभग बीत जाने पर माँ के मुख से कुछ अस्पष्ट शब्द निकलने लगे। पर उनका कुछ स्पष्ट अर्थ नहीं निकल रहा था। उसके बाद जो कई स्पष्ट शब्द सुने गये वे इस प्रकार थे – ''जाना होगा? – नहीं? – क्यों? – राधि

* जैसे लुका-छिपी के खेल में यदि कोई खूँटी या ढाई को छू ले, तो उसे चोर नहीं बनना पड़ता। वैसे ही एक बार ईश्वर को पा लेने पर गृहस्थी में कोई भय नहीं रह जाता। – श्रीरामकृष्ण का एक दृष्टान्त

४०. सुरबाला विधवा थी और तत्कालीन समाजिक प्रथा के अनुसार बाल नहीं रखती थी, इसीलिए पुत्री राधू उन्हें मुंडी-माँ कहती थी।

(शेष अगले पृष्ठ पर)

दैवी सम्पदाएँ (७) स्वाध्याय

भैरवदत्त उपाध्याय

(गीता में आसुरी गुणों के साथ ही दैवी गुणों का भी निरूपण किया गया है। विद्वान् लेखक ने इस लेखमाला में दैवी गुणों का सविस्तार विश्लेषण किया है और विभिन्न शास्त्रों व आचार्यों के विचारों के आधार पर बताया है कि इन्हें अपने जीवन में कैसे लाया जाय। – सं.)

स्वाध्याय सातवीं दैवी सम्पत्ति है। गीता के चौथे अध्याय में इसे यज्ञ की उपाधि से विभूषित किया गया है।[१] स्वाध्याय का सामान्य अर्थ – अपने आप से वेदादि सद्ग्रन्थों का ध्यानपूर्वक किया गया अध्ययन है। आचार्य शंकर ने अदृष्ट लाभ के लिए ऋग्वेदादि का अध्ययन कहा है। श्रीधर के अनुसार यह ब्रह्मयज्ञ अर्थात् वेदादि ग्रन्थों का अध्ययन और प्रणव-जप[२] है – **ब्रह्मयज्ञादि जपयज्ञो वा।**

महर्षि पतंजलि ने चित्तशुद्धि के सरल एवं उपयोगी उपाय के रूप में जिस क्रियायोग का वर्णन किया है, उसमें स्वाध्याय की गणना है।[३] स्वाध्याय उनके योग के आठ अंगों में से द्वितीय अंग नियम के अन्तर्गत भी समाविष्ट है – **शौच-सन्तोष-तप:स्वाध्यायेश्वर-प्रणिधानानि नियमा:।**[४] सांख्य-दर्शन की आठ सिद्धियों में स्वाध्याय एक महत्वपूर्ण सिद्धि है।[५] विवेक-ख्याति अथवा ज्ञान से कैवल्य-प्राप्ति होती है। बिना ज्ञान के मोक्ष सम्भव नहीं है। इसका प्रमुख सोपान स्वाध्याय है। यदि यह पूर्ण निष्ठा, समर्पण, श्रद्धा, अनासक्ति, निरहंकार एवं निष्काम भाव से किया जाय, तो यज्ञ है। प्रशस्त होने के कारण यह सत्कर्म है। ऐसा सत्कर्म, जिससे मनीषी भी पवित्र हो जाते हैं और शास्त्रों ने मुक्त कण्ठ से जिसकी कर्तव्यता का विधान किया है। यह वाणी का तप है।[६] इससे मन की प्रसन्नता, भावों की संशुद्धि और स्वहित के साथ लोकहित की प्राप्ति होती है।

स्वाध्याय स्व और अध्याय दो पदों के मेल से बना सामासिक पद है। इसके विग्रह और स्वाध्याय से जुड़े कुछ जिज्ञासामय प्रश्नों का समाधान इस प्रकार किया जा सकता है – **केन कस्माद् वा अध्ययनम्? स्वेन स्वस्माद् वा अध्ययनम्।**

हम किसके माध्यम से और किससे अध्ययन करें? इसका उत्तर है कि हमें अपने ही बलबूते पर अपनी अन्तश्चेतना अथवा अन्तरात्मा को ही अपना गुरु बनाकर स्वाध्याय करना है। गुरु तो केवल चक्षुओं का उन्मीलन करते हैं। एक दृष्टि प्रदान करते हैं। दिशा का संकेत एवं पथ का निर्देश करते हैं। अध्ययन के मार्ग पर शिष्य को ही अग्रसर होना है। गुरु द्वारा बिन्दु के रूप में दिये गये ज्ञान का विस्तार करना शिष्य का ही दायित्व है। स्वाध्याय के बिना निपुणता तो क्या साधारण तैयारी भी नहीं होती।

केन कारणेन, कस्मै कारणाय,
कस्मात् कारणात् वा अध्ययनम्?
स्वेन कारणेन, स्वस्मै कारणाय,
स्वस्मात् कारणात् वा अध्ययनम्।

दूसरा प्रश्न है कि अध्ययन का उद्देश्य क्या है? अध्ययन क्या केवल अध्ययन के लिए है? यह क्या मात्र कामार्थ – भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए है? क्या यह आत्मोन्नति, धर्म एवं मोक्ष की प्राप्ति का साधन नहीं हो सकता? क्या इसका हेतु निजी अभ्युदय

---

१. गीता ४/२८; २. तस्य वाचक प्रणव:, तज्जपस्तदर्थ-भावनम्। (पातंजल-योग-सूत्र, १/२७-२८)
३. तप:स्वाध्यायेश्वर-प्रणिधानानि क्रियायोग:। (वही, २/१)
४. वही, २/३२
५ ऊह:शब्दोऽध्ययनं दु:खविघातास्त्रय: सुहृत्प्राप्ति:।
दानं च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धे: पूर्वोऽकुंशस्त्रिविध:॥ सांख्यकारिका, ५९
६. गीता १८/५

पिछले पृष्ठ का शेषांश

के लिए? – ठीक है।'' ये शब्द लेकर मन-ही-मन तरह-तरह की कल्पना करने लगा। सोचने लगा – उनकी ये बातें क्या ठाकुर के साथ हुईं?

रात समाप्त होने के साथ-साथ माँ के शरीर में पसीना दिखाई देने लगा। सुबह तक बुखार बिल्कुल चला गया।

संध्या के बाद स्वस्थ हो जाने पर माँ बिस्तर पर पैर फैलाये बातें कर रहीं थीं। पिछली रात उनकी ठाकुर के साथ कोई बातचीत हुई या नहीं – पूछने पर ठीक उत्तर न मिलने पर मैंने उन्हें पकड़ा कि वे हम लोगों को छोड़कर न जायें। उन्होंने हामी भरी। ❖ **(क्रमश:)** ❖

तथा निःश्रेयस नहीं है? क्या इसमें समष्टि का उदय – लोकमंगल का भाव अन्तर्हित नहीं है? स्वाध्याय के पूर्व इन प्रश्नों का सम्यक् समाधान आवश्यक है।

महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलि ने लिखा है – **ब्राह्मणेन निष्कारणः षडंगो वेदः ज्ञेयोऽध्येतव्यश्च** – अर्थात् ज्ञान-पिपासु को बिना किसी प्रयोजन के छहों अंगों सहित वेद का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। पूर्वज ऋषियों ने जिन अनुभूतियों को संजोया है, उन्होंने जिस ज्ञान का दर्शन किया है और विषम से विषम परिस्थितियों में सर्वथा निस्पृह भाव से प्राणों के मूल्य पर संस्कृति तथा ज्ञान के जिस कल्पतरु का रोपण, संवर्धन तथा संरक्षण किया है और जो ज्ञान-निधि हमें प्रदान की है, उस धरोहर को सुरक्षित रखने, उसमें अभिवृद्धि करने और उसे अगली पीढ़ी को कर्तव्यबोध के साथ हस्तान्तरित करने का दायित्व भी अपना है। इसका निर्वाह हम तभी कर सकते हैं, जब हम अपने आपको स्वाध्याय के लिए समर्पित कर दें।

स्वाध्याय वस्तुतः स्वाध्याय के लिए नहीं है। वह सोद्देश्य तथा साभिप्राय क्रिया है। वह सर्वथा निरपेक्ष क्रिया नहीं है। आत्मिक आनन्द और व्यष्टि की ज्ञानात्मक एवं संवेदनात्मक चेतना के विस्तार के साथ उसमें समष्टिगत चेतना से सम्बद्ध लोकोदय की भावना भी सन्निहित है। सद्ग्रन्थों का मूलभूत प्रयोजन मानवीय मूल्यों का प्रतिपादन है। इनके स्वाध्याय का अर्थ उन मूल्यों के प्रति समर्पण है। योगाचार्य पतञ्जलि ने लिखा है –**स्वाध्यायाद् इष्टदेवता-सम्प्रयोगः** – अर्थात् स्वाध्याय से इष्टदेवता का साक्षात्कार होता है। देव से तदाकारिता स्थापित होती है। जिसका तात्पर्य है देवता के गुणों की धारणा, देव के आचरणों का अनुवर्तन और दैवीय मूल्यों का संस्थापन। उन्होंने स्वाध्याय के दो प्रयोजन निरूपित किये हैं – समाधि की भावना और अविद्यादि क्लेशों का तनूकरण – **समाधि भावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च।** (२/२) आचार्य शंकर ने इसका उद्देश्य अदृष्ट लाभ कहा है।

वास्तव में स्वाध्याय निःसंग और निष्काम भाव से होना चाहिए। यह पूर्णतः परमात्मा को समर्पित हो –

स्वाध्याय शौचसन्तोषतपांसि नियतात्मवान्।
कुर्वीत ब्रह्मणि तथा परस्मिन् प्रवणं मनः॥

नियतात्मा शुद्धमन योगी, स्वाध्याय, शौच, सन्तोष और तप परब्रह्म परमात्मा को अर्पित करे। स्वाध्याय योग है। मन की वृत्तियों का नियमन और उनका केन्द्रीकरण आवश्यक है। स्वाध्याय से योग तथा योग से स्वाध्याय की साधनाएँ चलती हैं। ये एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। दो सम्पत्तियाँ हैं और इनसे परमात्मा प्रकाशित होता है –

स्वाध्यायाद् योगमुपासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याय-योग-सम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥

कस्य अध्ययनम्? स्वस्य अध्ययनम्।

किसका अध्ययन? अर्थात् किस विषय का – किन ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए? यह प्रश्न भी महत्वपूर्ण है। उत्तर है – अपना – अपनी आत्मा का अध्ययन। मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? मेरा गन्तव्य क्या है? मेरे आने का उद्देश्य क्या है? यह दृश्य जगत् क्या है? इसका कर्ता कौन है? मेरा उससे और इस सृष्टि से क्या सम्बन्ध है? आदि-आदि प्रश्नों का समाधान खोजना, आत्मावलोकन तथा आत्मालोचन करना स्वाध्याय है।

सद्ग्रन्थों का अध्ययन स्वाध्याय है। अपने जातीय व्यक्तित्व की पहचान कराकर सांस्कृतिक गौरव का साक्षात्कार करानेवाले ग्रन्थ सद्ग्रन्थ हैं। सद्ग्रन्थ वे हैं, जिनके अध्ययन से सद्-असद्-विवेक की उत्पत्ति, जड़ता का विनाश, व्यापक दृष्टिकोण, आत्मविश्वास, आत्मप्रेम से लेकर विश्वप्रेम तक की भावना का उदय होता है। हमारे सोच के दायरे को कम करने और मानव-मानव के बीच घृणा एवं विद्वेष के बीज बोनेवाले ग्रन्थ सद्ग्रन्थ नहीं हैं। सद्ग्रन्थों के अध्ययन से विचार और कर्म की ऊर्जा मिलती है। जिससे हमारा वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन परिचालित होता है।

स्वाध्याय के लिए सद्ग्रन्थों का चयन आवश्यक है। उसके नाम पर अस्वस्थकर साहित्य का चयन उचित नहीं है। आज वासना और हिंसा की भावना को भड़काने वाले साहित्य से बाजार पटा पड़ा है। विकृत साहित्य को किराये पर देने की व्यावसायिक दूकानें जोरों से चल रही हैं और इसी तरह के साहित्य के पाठकों की संख्या भी दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ रही है। परिणामतः समाज जिन भीषण स्थितियों से गुजर रहा है, उसका एक कारण सद्ग्रन्थों के स्वाध्याय की वृत्ति की कमी है।

स्वाध्याय में निम्नांकित बिन्दु विचारणीय हैं –

(१) स्वाध्यायी को अपने स्वाध्याय पर दम्भ नहीं होना चाहिए, क्योंकि ज्ञान न तो विवाद के लिए है और न किसी दूसरे को नीचा दिखाने के लिए है।

(२) जैस-जैसे स्वाध्यायी के ज्ञान में वृद्धि होती है, वैसे-वैसे वह विनयशील बनता जाता है। विनयशीलता में ही उसके स्वाध्याय की शोभा है।

(३) स्वाध्याय में किसी प्रकार का पूर्वाग्रह या दुराग्रह नहीं होना चाहिए। निर्विकार तथा शुद्ध मन से ही स्वाध्याय किया जाना चाहिए।

(४) स्वाध्यायी में आदि से अन्त तक धैर्य तथा उत्साह की धारा प्रवाहित रहे। उसका धैर्य टूटने न पाये और उत्साह भंग न हो।

(५) स्वाध्यायी को अपने स्वाध्याय से कभी सन्तुष्ट नहीं

होना चाहिये। वह ऐसा न सोचे कि अब मैंने काफी स्वाध्याय कर लिया है और मुझे अब इसकी आवश्यकता नहीं है –

सन्तोषस्त्रिषु कर्तव्यः स्वदारे भोजने धने ।
त्रिषु चैव न कर्तव्यः स्वाध्याये जपदानयोः ।।

– अपनी पत्नी, भोजन तथा धन – इन तीन चीजों में सदा सन्तोष रखना चाहिये। और स्वाध्याय, जप तथा दान – इन तीन चीजों में सर्वदा असन्तुष्ट रहना चाहिये।

बार-बार अभ्यास के द्वारा ही शास्त्र सुस्मृत रहते हैं। अभ्यास-शैथिल्य से उनका विस्मरण हो जाता है –

शास्त्र सुचिन्तित पुनि-पुनि देखिअ ।
भूप सुसेवित बस नहि लेखिअ ।।
राखिअ नारि जदपि उर माहीं ।
जुबती शास्त्र नृपति बस नाहीं ।।

(६) स्वाध्याय में निरन्तरता रहनी चाहिए। नित्य स्वाध्याय की चर्चा में किसी तरह का व्यवधान न हो – यह सदा ध्यान रहे। आलस्य और असावधानता के कारण उसकी कड़ी न टूटे। स्वाध्याय में कभी प्रमाद न हो – स्वाध्यायान्मा प्रमद।

(७) स्वाध्याय के ग्रन्थों में हमारी श्रद्धा हो, पर उसका आधार तर्क हो, न कि अन्धता, अविवेक तथा रूढ़िवादिता। सद्ग्रन्थों के अध्ययन से यदि हमारी सोच किसी चौखटे में बन्द हो जाती है, तो यह कोई सुफल नहीं है। सत्य के समग्र दर्शन हेतु हमें उसके अनेक आयामों का अन्वेषण करना है और इसके लिये निरन्तर स्वाध्याय की अपेक्षा है।

(८) स्वाध्यायी में जिज्ञासा-वृत्ति होनी चाहिए। बिना जिज्ञासा – जानने की इच्छा के उसमें स्वाध्याय की रुचि नहीं हो सकती। उसके मन में जब तक कुतूहल नहीं होगा, तो वह उसे शान्त करने का प्रयास भी नहीं करेगा।

(९) लगन, एकाग्रता, एकान्त-सेवन की प्रवृत्ति, चंचलता का अभाव, इन्द्रियों का निग्रह, सांसारिक सुखों की निरभिलाषा और सर्वात्मना समर्पण के बिना शास्त्राभ्यास असम्भव है। स्वाध्याय के लिये इन सभी गुणों का होना आवश्यक है।

अन्त में महत्वपूर्ण तथ्य यही है कि स्वाध्याय ऐसी दैवी सम्पत्ति है, जिसके माध्यम से हम ज्ञान की उपासना करते हैं। यहाँ समय का सदुपयोग है। सामाजिक द्वन्द्वों से निःसंगता, कुसंगता से मुक्ति और सामाजिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक दायित्व का निर्वहन है। इससे आत्मिक शान्ति, मानसिक संतृप्ति और सत्य का विराट् दर्शन होता है। अभय, शुचिमन, एकाग्रचित्त, चंचल वृत्तियों का निग्रह और निष्काम भाव से किया गया स्वाध्याय योग, यज्ञ, तप तथा सत्कर्म है। जिसका अनुष्ठान हमारे जीवन का पावन व्रत है। दैवी गुणों का अधिगम इस व्रत का महाफल है। अतः स्वाध्याय की उपेक्षा और उसमें प्रमाद न हो। ❖ **(क्रमशः)** ❖

पुरखों की थाती

कुर्वन्नपि व्यलीकानि यः प्रियः प्रिय एव सः ।
अशेष-दोष-दुष्टोऽपि कायः कस्य न वल्लभः।।

– जैसे असंख्य दोषों से दूषित होकर भी अपना शरीर सबको प्रिय लगता है, वैसे ही अपना व्यक्ति चाहे जो भी दुष्कर्म करे, तथापि वह प्रिय ही लगता है।

कलौ विश्वेश्वरो देवः कलौ वाराणसी पुरी ।
कलौ भागीरथी गंगा, दानं कलियुगे महत् ।।

– कलियुग में विश्वनाथ श्रेष्ठ देवता हैं, काशी श्रेष्ठ पुरी है, गंगा श्रेष्ठ नदी हैं और दान श्रेष्ठ धर्म है।

क्रोधो हि शत्रु प्रथमो नराणां
देहस्थितो देह-विनाश-नाम ।
यथा स्थितः काष्ठगतो हि वह्निः
स एव वह्निः दहते शरीरम् ।।

– जैसे लकड़ी में रहनेवाली अग्नि उसके शरीर को जला देती है, वैसे ही क्रोध मनुष्य का प्रधान शत्रु है, जो उसके भीतर रहकर उसे जला देता है।

विवेकानन्द को प्रणाम

जितेन्द्र कुमार तिवारी

गर्व करें उन पर सदा, जिनका ज्ञान अकूत ।
भारतीय संस्कार के, जो थे गौरव-दूत ।।

मात्र देश में ही नहीं , थे जो जग-विख्यात् ।
शिव-सेवा सकंल्प से, थे जो पूरित-गात ।।

जिनकी वाणी में सदा, ऊर्जा का संचार ।
नव-युग की नव-चेतना, के थे जो आधार ।।

अडिग हिमालय-सा रहा, जिनका उन्नत भाल ।
वही विवेकानन्द थे, भारत माँ के लाल ।।

आज गूँजता विश्व में, जिनका पावन नाम।
परमहंस के शिष्य को, बारम्बार प्रणाम ।।
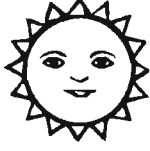
श्रीरामकृष्ण की प्रार्थनायें
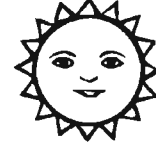
स्वामी प्रपत्त्यानन्द

श्रीरामकृष्णदेव के द्वारा मधुरभाव साधना के समय व्याकुल होकर प्रार्थना करने के विषय में स्वामी सारदानन्द जी लिखते हैं – "श्रीकृष्ण दर्शन तथा उनको अपने वल्लभ रूप में प्राप्त करने की अभिलाषा से श्रीरामकृष्णदेव अनन्यचित्त हो श्रीयुगल पादपद्मों की सेवा में रत हुये थे एवं साग्रह प्रार्थना तथा प्रतीक्षा में दिन व्यतीत कर रहे थे। चाहे दिन हो या रात, किसी भी समय उनकी हार्दिक व्याकुल प्रार्थना का विराम नहीं होता था तथा इस तरह दिन, पक्ष, महीना बीत जाने पर भी अविश्वास जनित निराशा कभी भी उपस्थित हो उन्हें अपनी प्रतीक्षा से तनिक भी विचलित नहीं कर पाती थी।"

प्रार्थना प्रार्थी की अन्तश्चेतना को जाग्रत करती है तथा उसके हृदय को शुद्ध कर ईश्वरोन्मुखी, करती है। प्रार्थना परमात्मा से सम्बन्ध स्थापित करने की एक सरल, सहज प्रणाली है।

स्वामी शिवान्दजी महाराज 'आनन्दधाम की ओर (पृष्ठ ९६) में एक भक्त महिला के प्रत्युत्तर में परामर्श देते हैं – "केवल रोओ और प्रार्थना करो – 'प्रभु दया करो, दया करो।' रोते-रोते मन का मैल धुल जायेगा। तब वे सहस्र सूर्य-प्रभा से प्रकाशित हो उठेंगे। तब देखोगे कि वे भीतर ही विराजमान हैं। खूब रोना और बीच-बीच में सद्-असत् का विचार करना। एकमात्र भगवान ही सत्य हैं और संसार, जन्म-मृत्यु, सुख-दुख, सभी अनित्य हैं। इस प्रकार विचार और प्रर्थना करते-करते उनकी दया होगी, संसार के प्रति विरक्ति होगी और मन श्रीभगवान की ओर चला जायेगा।"

प्रार्थना का तत्त्व

प्रार्थना-तत्त्व को परिभाषित करते हुये स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती जी महाराज कहते हैं – " 'प्र' माने 'प्रकृष्ट' और अर्थना माने 'याचना। प्रार्थी याचना करता है – हे भगवान ! जो सबसे श्रेष्ठ है, वह हम को मिले। प्रार्थना के फलस्वरूप प्रार्थी की वृत्ति प्रार्थ्याकार हो जाती है तथा जिसकी प्रार्थना की जाती है, वह हृदय में ओत-प्रोत हो जाता है।

"भक्तलोग भगवान की प्रार्थना के फलस्वरुप कर्म-सिद्धान्त पर भी विजय प्राप्त कर लेते हैं। भगवद्-भक्ति से निर्मित भगवदाकार वृत्ति कर्मफल को भीतर घुसने का अवसर ही नहीं देती है। इसलिये इस कर्म-सिद्धान्त को पराजित करने के लिये भगवान की भक्ति की आवश्यकता है। आप अत्यन्त श्रद्धा-विश्वास-प्रेमपूर्वक प्रार्थना करो, भगवान की भक्ति करो और भगवान की प्राप्ति करो। प्रकृष्ट अर्थना – याचना से आपकी मनोवृत्ति भगवदाकार होगी और आपका दिल भगवान से भर जायेगा। प्रार्थना से जीव कर्मफल से मुक्त होता है। भगवान की भक्ति प्रारब्धहृत है।" (रसनिकुंज, जुलाई, १९९७, पृ-९, १२)

प्रार्थना हमारे अन्तस्थ परामात्मा को जाग्रत करती है। प्रार्थना का अर्थ है जीवात्मा का परमात्मा के साथ घनीभूत श्रद्धापूर्ण प्रेममय सम्बन्ध। यह आत्मा की हार्दिक व्याकुल पुकार है। सर्वज्ञ परमात्मा से सम्बन्ध स्थापित करने की एकमात्र सरल प्रणाली, सहज साधना प्रार्थना ही है। प्रार्थना से ईश्वर की अद्भुत कृपा प्राप्त होती है। प्रार्थना की शक्ति विलक्षण है।

प्रार्थना से ईश्वर की अद्भभुत कृपा–प्राप्ति

साधक को प्रार्थना की शक्ति का बोध कराते हुये एफ. जे. अलेक्जेण्डर जी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "ध्यान के समय" In the hours of meditation में कहते हैं – "अटल विश्वास, अध्यवसायपूर्वक प्रार्थना करो। क्योंकि आध्यात्मिक संघर्ष में स्वयं के सतत् निरीक्षण की परम आवश्यकता है। कभी-कभी ऐसे क्षण आयेंगे, जब तुम अपने वास्तविक स्वरूप की झलक पा सकोगे तथा अपनी दुर्बलताओं को दुर्बलता के रूप में पहचान सकोगे। उस समय ईश्वर को पुकारो ! वह तुम्हारी प्रार्थना सुनकर तुम पर कृपा करेंगे।

"केवल प्रार्थना ही वासना को जीत सकती है। ईश्वर के नाम से बड़ा कुछ भी नहीं है। सतत सावधानी और सतत प्रार्थना ही तुम्हारा उद्देश्य हो ! सर्वशक्तिमान के सन्देशवाहक जो कि सहायक हैं, आयेंगे और तुम मुक्त हो जाओगे। नि:सन्देह पथ बहुत लम्बा है, किन्तु उसका अन्त निश्चित है।

"प्रार्थना गहराई तक प्रवेश करती है, और वासनाओं को, प्रलोभन-शक्ति को समूल नष्ट कर देती है। प्रार्थना करो ! प्रार्थना करो ! सतत प्रार्थना करो ! सर्वदा प्रार्थना करो ! विकारों के क्षणों में, बुरे समय में अधीर मत होओ। यदि कभी च्युत भी हो जाओ, तब भी निराश मत होओ। परमात्मा सर्वदा समीप हैं। वे तुम्हारी पीड़ा सरलता और सत्यता को जानते हैं। उन्हें पुकारना कभी मत छोड़ो। अपनी भूलों के समय भी दृढ़ता के साथ प्रार्थना करते रहो। प्रार्थना की गहराई से ही ईश्वर के प्रति प्रेम, आध्यात्मिक दर्शन और आत्मानुभूति सभी वस्तुयें आती हैं।

"तुम्हारी प्रार्थनायें तुम्हें पूर्ण बना देगीं। प्रार्थना पर विश्वास करो ! यह साधना है। तुम्हारा हृदय कितना ही

अन्धकारमय क्यों न हो, प्रार्थना उसमें प्रकाश लायेगी। क्योंकि प्रार्थना ध्यान है। प्रार्थना अपने आप में अलौकि दर्शन है। प्रार्थना सर्वशक्तिमान परमात्मा से सम्मिलन है। प्रार्थना सर्वव्यापी परम प्रेमस्वरूप सर्वशक्तिमान परमात्मा से संयुक्त कराती है। प्रार्थना तुम्हारी आत्मा को पंख प्रदान करती है। यदि तुम दलदल में फँसे हो तो उसमें से निकल जाओगे। यदि तुममें पर्वताकार दुष्टता आ गई हो और उसने तुम्हारी आध्यत्मिकता के प्रत्येक चिह्न को ढँक दिया हो, यदि सम्पूर्ण आध्यात्मिक भाव को दबा दिया हो, तो प्रार्थना तुम्हें ऊपर उठा देगी। अन्त:करण के भीतर ईश्वर, तुम्हारी प्रार्थना सुनेंगे। उनकी शक्ति तथा प्रेम तुम्हारे भीतर प्रगट होंगे तथा तुम ईश्वर की अभय वाणी के अनुग्रह के प्रमाणस्वरूप उन्नत होओगे। तब तुम ईश्वर के महिमामय संगीत का गान करने लगोगे। तुम्हारा हृदय स्वयं ईश्वर-कृपा की महानता का प्रमाण देगा। प्रार्थना करते रहो चाहे जितने भी प्रलोभन शत्रु रूप में तुम पर आक्रमण करें। उनकी कोई चिन्ता मत करो। प्रार्थना के द्वारा तुम चतुर्दिक एक अभेद्य किला बना लो। नारकीय शक्ति भी उसका कुछ नहीं कर पायेगी। भगवान प्रेम और अनुभूति के घनिष्ठ बन्धन से तुम्हें अपने साथ बाँध लेंगे।''

ऋषियों और भक्तों ने कैसे की प्रार्थना?

वैदिक ऋषियों ने प्रार्थना की थी – **ॐ त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ। अद्या ते सुम्नमीमहे ।।** – 'हे विश्वदेव ! सब दिशाओं के स्वामी ! सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी प्रभो ! तेरा ज्ञान अनन्त है, तेरा कर्म असीम है। तुम हमारे माता-पिता हो। हम तुमसे सुख की याचना करते हैं।

उत स्वया तन्वा सं वदे तत्कदा न्वन्तर्वरुणे भुवानि। किं मे हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृलीकं सुमना अभिख्यम् ।। – ''हे प्रभु ! कब वह दिन आयेगा, जब मैं अपनी आत्मा से तुम्हारे साथ बातें कर सकूँगा? कब वह सौभाग्य की घड़ी आयेगी, जब मैं तेरा प्रेमपात्र बनकर तुझे अपना बना लूँगा, तुझसे मिलकर एक हो जाऊँगा? कब वह घड़ी आयेगी, जब तुम सप्रेम मेरी गीतों को सुनोगे और श्रद्धा से दी हुई भेंट को स्वीकार करोगे? हे नाथ ! कब वह सौभाग्य की अवधि आयेगी, कब वह सूर्योदय होगा, जब मैं अच्छे मन से तेरे दर्शन पाऊँगा?'' (भक्त और भगवान, पृ. ५-१७)

भक्त बिल्वमंगल भगवान श्रीकृष्ण से प्रार्थना करते हैं।

हे देव ! हे दयित ! हे भुवनैकबन्धो,
हे कृष्ण ! हे चपल ! हे करुणैकसिन्धो।
हे नाथ ! हे रमण ! हे नयनाभिराम,
हा हा कदानुभवितासि पदं दृशोर्मे ।।

''हे देव ! हे दयित ! हे त्रिभुवन के अद्वितीय बन्धु ! हे कृष्ण ! हे लीलामय ! हे करुणा के एकमात्र सिन्धु ! हे नाथ ! हे प्रियतम ! हे नयनाभिराम ! हाय, हाय मैं तेरे चिन्मय स्वरूप को कब देख पाऊँगा?

गोस्वामी तुलसीदासजी अपने प्रेमास्पद आराध्य भगवान श्रीरामचन्द्र जी से प्रार्थना करते हैं –

यह बिनती रघुबीर गुसाई।
और आस-बिस्वास भरोसो,
हरो जीव जड़ताई ।।
चहौं न सुगति, सुमति, सम्पति कुछ
रिधि-सिधि बिपुल बड़ाई।
हेतु-रहित अनुराग राम-पद
बढ़ै अनुदिन अधिकाई ।।

– हे प्रभु ! मैं सुगति, सुबुद्धि, सम्पत्ति, ऋद्धि-सिद्धि तथा नाम-यश कुछ भी नहीं चाहता। केवल श्रीराम के चरणों में मेरी निष्काम भक्ति प्रतिदिन बढ़ती रहे, यही हमारी आन्तरिक प्रार्थना है।

नाहिनै नाथ ! अवलम्ब मोहि आन की।
करम-मन-बचन पन सत्य करुनानिधे !
एक गति राम ! भवदीय पदत्रान की ।।...
जाऊँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे।
काको नाम पतित-पावन जग,
केहि अतिदीन पियारे ।।

– 'हे नाथ ! मेरा दूसरा कोई सहारा नहीं है। हे करुणानिधान, मैं मन-वचन-कर्म से प्रण कर कहता हूँ कि आपके पदत्राण के अतिरिक्त हमारी कोई गति नहीं है।' अन्त में संत कवि श्रीराम को अपना सर्वस्व समर्पित करते हुये कहते हैं कि आप ही बताइये कि मैं आपके चरणों को छोड़कर और किसके पास जाऊँ? कौन पतित पावन और दीनबन्धु, दीनों का प्रेमी है, जो मुझे अपने चरणों में शरण देगा? आपके अतिरिक्त मुझे दूसरी कोई गति नहीं दिखती।

कालिका पुराण में भगवान शिव कहते हैं – हे भैरव ! मुद्रा के अन्त में इन छ: महामन्त्रों की प्रार्थना देवी को समर्पित करनी चाहिए –

कर्मणा मनसा वाचा त्वत्तो नान्यगतिर्मम।
अन्तश्चरेण भूतानां त्वं गतिः परमेश्वरि ।।
मातर्योनि सहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम्।
तेषु तेष्वच्युतां भक्तिरच्युतेऽस्तु सदा त्वयि ।।
(द्वितीय खण्ड, श्लोक-१६२-१६३, पृष्ठ २५२)

– 'मन-वचन और कर्म से आपके भिन्न अन्य मेरी कोई गति नहीं है। हे परमेश्वरि ! प्राणियों के अन्तस्थ में संचरण करने से आप ही हमारी एकमेव गति हैं। हे माता ! जिन-जिन सहस्रों योनियों में मैं गमन करूँ, हे अच्युते ! उन-उन योनियों में मेरी सदा आपके प्रति अचला, अच्युता भक्ति हो !

प्रार्थना की शृंखला में श्रीरामकृष्णदेव की प्रार्थनायें ईश्वर-दर्शन के इच्छुक साधकों के लिये अत्यन्त भावोद्दीपक हैं। इनमें वैदिक ऋषियों की तरह तत्त्वजिज्ञासा की व्याकुलता, भक्तकालीन भक्तों की शरणागति, अपनी परमप्रिया माँ काली पर बालकवत् निर्भरता, तथा माँ और पुत्र के व्यावहारिक सहज दिव्य-प्रेम की अभिव्यक्ति होती है।

श्रीरामकृष्ण की प्रार्थनाएँ :

''माँ सभी कहते हैं, मेरी घड़ी ठीक चल रही है। ईसाई, हिन्दू, मुसलमान सभी कहते हैं मेरा धर्म ठीक है, परन्तु, माँ किसी की भी घड़ी तो ठीक नहीं चल रही है। तुमको ठीक ठीक कौन समझेगा, परन्तु व्याकुल होकर पुकारने पर, तुम्हारी कृपा होने पर सभी पथों से तुम्हारे पास पहुँचा जा सकता है। माँ, ईसाई लोग गिर्जाघरों में तुम्हें कैसे पुकारते हैं, एक बार दिखा देना। परन्तु माँ, भीतर जाने पर लोग क्या कहेंगे? यदि कुछ गड़बड़ हो जाय तो? यदि लोग काली मन्दिर में जाने न दें, तो फिर गिर्जाघर के दरवाजे के पास से ही दिखा देना।

''माँ, मुझे यहाँ कहाँ लायी! मैं रासमणी के मन्दिर में कहीं अच्छा था। तीर्थ-दर्शन को आते हुए भी वे ही कामिनी-कांचन की बातें! पर वहाँ (दक्षिणेश्वर में) तो विषय-चर्चा सुननी नहीं पड़ती थी।

''मैंने माँ के निकट केवल भक्ति माँगी थी। हाथ में फूल लेकर माँ के पादपद्मों में चढ़ाया था; कहा था – माँ यह लो तुम्हारा पाप, यह लो तुम्हारा पुण्य, मुझे शुद्धा भक्ति दो। यह लो तुम्हारा ज्ञान, यह लो तुम्हारा अज्ञान, मुझे शुद्धा भक्ति दो। यह लो तुम्हारी शुचिता, यह लो तुम्हारी अशुचिता, मुझे शुद्धा भक्ति दो। यह लो तुम्हारा धर्म, यह लो तुम्हारा अधर्म, मुझे शुद्धा भक्ति दो।

''ब्रह्म-आत्मा, भगवान-भागवत, भक्त-भगवान, ब्रह्म-शक्ति, शक्ति-ब्रह्म, वेद-पुराण-तन्त्र, गीता-गायत्री; मैं शरणागत हूँ, शरणागत हूँ, नाहं नाहं (मैं नहीं, मैं नहीं) तू ही तू ही, 'मैं यन्त्र हूँ, तुम यन्त्री हो' इत्यादि।

''ओ माँ! ओंकाररूपिणी! माँ, ये लोग कितना सब वर्णन करते हैं। माँ! कुछ समझ नहीं सकता! कुछ नहीं जानता हूँ। माँ! शरणागत! शरणागत! केवल यही करो माँ, जिससे तुम्हारे श्रीचरणकमलों में शुद्धा भक्ति हो। अब और अपनी भुवनमोहिनी माया में मोहित न करो माँ! शरणागत! शरणागत!

''माँ! भक्तों के लिए मेरा जी निकल रहा है। उन्हें शीघ्र मेरे पास ला दो।''

''माँ! मुझे कौन देखेगा? माँ, मुझमें शक्ति नहीं है कि अपना भार खुद ले सकूँ। और तुम्हारी बात सुनने को जी चाहता है। भक्तों को खिलाने की इच्छा होती है। सामने पड़ जाने पर किसी को कुछ देने की भी इच्छा होती है। माँ, यह सब किस तरह होगा? माँ, तुम एक बड़ा आदमी मेरी सहायता के लिए दो।

''माँ! मेरी तो सन्तान होगी नहीं, परन्तु इच्छा होती है कि एक शुद्ध भक्त बालक सदा मेरे साथ रहे। इसी तरह का एक बालक मुझे दो।

''माँ! सीता की तरह कर दो। बिल्कुल सब भूल गयी हैं – देह का ख्याल नहीं, हाथ-पैर, स्तन-योनि किसी का भी होश नहीं। एकमात्र चिन्ता – 'राम कहाँ!'

''माँ! पूजा तो तुमने उठा दी, परन्तु देखो, मेरी सब वासनाएँ चली न जायँ। माँ, परमहंस तो बालक है – बालक को माँ चाहिए या नहीं? इसलिए अब तुम मेरी माँ हो, मैं तुम्हारा बच्चा। माँ का बच्चा माँ को छोड़कर कैसे रहे?

''वे सब तो हैं, पर कृष्ण तू ही नहीं है! यह वही भूमि है, जहाँ तू गौएँ चराता था।

''माँ! अच्छा हो जाऊँ, बेहोश न कर देना। साधु के साथ सच्चिदानन्द की बातें करूँगा। सच्चिदानन्द की बातें करते हुए आनन्द मनाऊँगा।

''हरि ॐ! हरि ॐ! हरि ॐ! माँ ब्रह्मज्ञान देकर मुझे बेहोश न करना। मैं ब्रह्मज्ञान नहीं चाहता माँ! मैं आनन्द करूँगा, विलास करूँगा। माँ! मैं वेदान्त नहीं जानता, जानना भी नहीं चाहता। माँ! तुझे पाने पर वेद-वेदान्त कितने नीचे पड़े रहते हैं।

''अरे कृष्ण, मैं तुझे कहूँगा, 'यह ले खा ले बच्चे' कृष्ण! कहूँगा 'तू मेरे ही लिए देह धारण करके आया है।'

''माँ, तुम्हारे पास जो लोग आते हैं उनका मनोरथ पूर्ण करो! सब त्याग न करना। माँ, अच्छा, अन्त में जैसा तुम्हें समझ पड़े वैसा करना!

''माँ, संसार में अगर रखना तो एक-एक बार दर्शन देना! नहीं तो कैसे रहेंगे? एक-एक बार दर्शन दिए बिना उत्साह कैसे होगा, माँ! – इसके बाद अन्त में चाहे जो करना।

''ॐ, ॐ, ॐ – माँ, मैं क्या कह रहा हूँ! माँ, मुझे ब्रह्मज्ञान देकर बेहोश न करना। मैं तेरा बच्चा जो हूँ। डरता हूँ, मुझे माँ चाहिए। ब्रह्मज्ञान को मेरा कोटि-कोटि नमस्कार! वह जिसे देना हो उसे दो। आनन्दमयी! आनन्दमयी!

''माँ, मैंने क्या अन्याय किया है? क्या मैं कुछ करता हूँ, माँ, तू ही तो सब कुछ करती है। मैं यन्त्र हूँ, तू यन्त्री। माँ,

चोट लग जाने से मैं रोता हूँ? नहीं ! मैं तो इसलिए रोता हूँ कि 'तुम जैसी माँ के रहते, मेरे जागते, घर में चोरी हो'।

ईश्वर को कैसे पुकारें?

''माँ आनन्दमयी, तुम्हें दर्शन देना ही होगा। हे दीनानाथ ! हे जगन्नाथ ! मैं जगत से अलग थोड़े ही हूँ? मैं ज्ञानहीन हूँ, भक्तिहीन हूँ, साधनहीन हूँ, मैं कुछ भी नहीं जानता। कृपा करके दर्शन देना होगा।

''कृष्ण ! कृष्ण ! सच्चिदानन्द ! कहाँ हो, आजकल तुम्हारा रूप देखने को नहीं मिलता ! अब तुम्हें भीतर भी देख रहा हूँ और बाहर भी। जीव-जगत, चौबीस तत्त्व सब तुम्हीं हो। मन-बुद्धि सब तुम्हीं हो। गुरु के प्रणाम में है –

अखण्ड मण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम् ।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः ।।

तुम्हीं अखण्ड हो, चराचर को व्याप्त किये हुए भी तुम्हीं हो। तुम्हीं आधार हो, तुम्हीं आधेय हो। प्राण-कृष्ण ! मन-कृष्ण ! बुद्धि-कृष्ण ! आत्मा-कृष्ण ! प्राण हे गोविन्द ! मेरे जीवन हो !

''माँ, मेरी विचार-बुद्धि पर वज्रपात हो।

''माँ, मैं या तुम? क्या मैं करता हूँ? नहीं, नहीं, तुम करती हो। अब तक तुमने विचार सुने या मैंने? ना, मैंने नहीं सुना, तुम्हीं ने सुना है।

''ऐ राम ! हे राम ! मैं भजनहीन हूँ, साधनहीन हूँ, ज्ञानहीन हूँ, भक्तिहीन हूँ, क्रियाहीन हूँ, राम ! शरणागत हूँ। मैं देह-सुख नहीं चाहता। अष्टसिद्धि तो क्या, शतसिद्धियाँ भी नहीं चाहता ! मैं शरणागत हूँ, शरणागत। बस, वही करो जिससे तुम्हारे पादपद्मों में शुद्धाभक्ति हो और तुम्हारी भुवनमोहिनी माया से मुग्ध न होऊँ। राम ! मैं शरणागत हूँ।

''माँ, योगियों ने योग करके, ज्ञानियों ने विचार करके जो कुछ समझा है, वह सब तू मुझे समझा दे, मुझे दिखला दे।

''माँ, जो लोग यहाँ अन्तर की प्रेरणा से आते हैं, वे सिद्ध हों।

''माँ, इसकी बुद्धि तो बड़ी हीन है, यह यहाँ आकर भी माला जप रहा है। जो कोई यहाँ आएगा, उसे तत्काल ही चैतन्य होगा। उसे माला जपना यह सब इतना न करना होगा।

''प्राण हो ! हे कृष्ण ! मेरे जीवन हो। जय गोविन्द वासुदेव सच्चिदानन्द ! हे कृष्ण, हे कृष्ण, ज्ञान कृष्ण, मन कृष्ण, प्राण कृष्ण, आत्मा कृष्ण, देह कृष्ण, जाति कृष्ण, कुल कृष्ण, प्राण हो, हे कृष्ण ! मेरे जीवन हो।

''माँ, मैं तुम्हारी शरण में हूँ – शरणागत हूँ ! तुम्हारे चरण-कमलों में मैंने शरण ली है। माँ, मैं देह-सुख नहीं चाहता, मान-सम्मान नहीं चाहता, अणिमादि अष्टसिद्धियाँ नहीं चाहता, केवल यह कहता हूँ कि तुम्हारे पादपद्मों में शुद्धा भक्ति हो – निष्काम, अमला, अहेतुकी भक्ति। और माँ, तुम्हारी भुवनमोहिनी माया में मुग्ध न होऊँ – तुम्हारी माया के संसार के कामिनी-कांचन पर कभी प्यार न हो। माँ, तुम्हारे सिवा मेरा और कोई नहीं है। मैं भजनहीन हूँ, साधनाहीन हूँ, ज्ञानहीन हूँ, भक्तिहीन हूँ, कृपा करके अपने श्रीपादपद्मों में मुझे भक्ति दो।

''कृष्ण कृष्ण ! गोपी कृष्ण ! गोपी गोपी ! राखालजीवन कृष्ण ! नन्दनन्दन कृष्ण ! गोविन्द गोविन्द !

गौराङ्ग प्रभु नित्यानन्द, हरे कृष्ण हरे राम राधे गोविन्द ! अलख निरंजन !

''जगन्नाथ ! जगद्बन्धो ! दीनबन्धो ! मैं संसार से अलग तो हूँ ही नहीं नाथ ! मुझ पर दया करो।

''माँ, तूने रामप्रसाद को दर्शन दिया है, तो मुझे क्यों न दोगी? मैं धन-जन, भोग-सुख कुछ भी नहीं चाहता हूँ, मुझे दर्शन दे !

माँ, यह क्या हो रहा है, मुझे कुछ भी पता नहीं; तुझे आवाहन करने का मन्त्र-तन्त्र भी मैं कुछ नहीं जानता हूँ। तू ही मुझे यह बता दे कि कैसे तेरी प्राप्ति हो सकती है। माँ ! तेरे सिवाय मुझे और कौन सिखाएगा। तुझे छोड़कर मेरा दूसरा और कोई भी सहायक अथवा गति नहीं है !

''माँ, अपने शरणागत बालक को जो कुछ कहना व करना है, तू ही बतला दे तथा तू ही करा ले।

'माँ, मेरी ऐसी दशा क्यों हो रही है, यह मैं कुछ भी नहीं समझ पा रहा हूँ। मुझे जो कुछ करना है, तू मुझसे करा ले तथा जो सिखाने का है, उसे सिखा दे ! सदा तू मेरे हाथों को पकड़े रह !

''माँ, अभी तक तूने दर्शन नहीं दिया।

''माँ, निरक्षर मूर्ख होने के कारण क्या मुझे इस प्रकार ठगना उचित है?

''माँ, तुझे पुकारने तथा तुझ पर विश्वास करने का क्या यही फल निकला? तूने भयंकर रोग से मेरे शरीर को जर्जर कर डाला? जो कुछ होनहार है, वह हो। शरीर भले ही चला जाय, पर तू मुझे न छोड़ना। मुझे दर्शन दे, मुझ पर कृपा कर। माँ ! एकमात्र तेरे पादपद्मों की ही मैंने शरण ली है, तेरे सिवाय मेरी और कोई भी दूसरी गति नहीं है।

''माँ, मेरे लिए इस बाह्य रूप की किंचिन्मात्र भी आवश्यकता नहीं है, इसे लेकर तू मुझे आन्तरिक आध्यात्मिक रूप प्रदान कर।

❑❑❑

राँची में श्रीरामकृष्ण भक्त-मण्डली

(झारखण्ड प्रदेश की राजधानी राँची के मोराबादी अंचल में १९२७ ई. में आरम्भ हुए रामकृष्ण मिशन आश्रम की प्लैटिनम-जयन्ती का समाचार हम 'विवेक-ज्योति' के अगस्त २००३ के अंक में प्रकाशित कर चुके हैं। यहाँ प्रस्तुत है उसी आश्रम की स्मारिका से राँची में रामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से सम्बन्धित कुछ आरम्भिक बातें। वहाँ श्रीरामकृष्ण के कई शिष्यों का पदार्पण हुआ था – स्वामी प्रेमानन्द जी १९१३ ई. में, स्वामी शिवानन्द जी १९१४ ई. में, गौरी माँ १९१६ ई. में, स्वामी सुबोधानन्द जी १९१५, १९१६, १९१७, १९२०, १९२१, १९२६, १९२८ और १९३१ ई. में और स्वामी अभेदानन्द जी १९२४ ई. में वहाँ पधारे थे। – सं.)

भगवान श्रीरामकृष्ण की लीला-सहधर्मिणी माँ श्री सारदा देवी के कई शिष्य शिलांग के ए.जी. ऑफिस में कार्यरत थे, जिनमें ज्योतीन्द्र नाथ घोष, इन्दूभूषण सेनगुप्त आदि प्रमुख थे। शिलांग में मातृभक्तों की यह टोली मिलकर भजन-कीर्तन के साथ-साथ 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' का पाठ आदि किया करती थी। वे लोग जब शिलांग (असम) से स्थानान्तरित होकर राँची (झारखण्ड) के ए.जी. ऑफिस में आये, तो वहाँ भी भक्तों का एक दल बना, जिनमें से अधिकाँश माँ के कृपा-प्राप्त थे। यहाँ भी उन्होंने श्री ठाकुर, स्वामी विवेकानन्द तथा माँ का जन्मोत्सव, श्रीरामकृष्ण-वचनामृत-पाठ, भजन-कीर्तन आदि की शुरुआत की।

ये सभी गुरुभाई आपस में बड़े प्रेम से मिलते, साधन-भजन करते और बड़े आनन्दपूर्वक रहते। (१९१५ ई. से १९३१ ई. के दौरान श्रीरामकृष्ण के एक साक्षात् शिष्य खोका महाराज के नाम से परिचित स्वामी सुबोधानन्द अनेकों बार राँची पधारे थे।) वे जब भी राँची पधारते, तो अधिकांशत: इन्दूभूषण सेनगुप्त के घर पर ही ठहरते। श्रीरामकृष्ण के और भी कई संन्यासी-शिष्य – स्वामी शिवानन्द, स्वामी प्रेमानन्द, स्वामी अभेदानन्द आदि राँची पधार चुके हैं। राँची के भक्तों को देखकर श्रीमाँ बड़ी प्रसन्न होतीं और कहतीं – "अरे ! देखो, मेरे राँची के भक्त आये हैं।" स्वामी शिवानन्द जी भी राँची के भक्तों को देखकर बड़े आनन्दित होते थे।

श्रीमाँ की स्नेह-सुधा

राँची की एक भक्त-महिला इन्दुबाला घोष ज्योतीन्द्र नाथ घोष की धर्मपत्नी थीं। उनकी दीक्षा-प्राप्ति की कथा संक्षेप में इस प्रकार है – ज्योतीन्द्र नाथ पूर्व बंगाल के थे और उनकी धर्मपत्नी भी वहीं की थीं। जब उन्होंने इन्दुबाला को गंगास्नान कराकर गीले वस्त्रों में ही दीक्षा के लिए उद्‌बोधन-भवन में श्रीमाँ के पास भेजा, तो सर्वप्रथम उनका गोलाप-माँ से सामना हुआ। उन्होंने इन्दुबाला के समक्ष कई प्रश्न रखे – "कहाँ से आयी हो? क्या नाम है? साथ में कौन है? किसलिए आई हो?" आदि आदि। इन्दुबाला का एक पुत्र भी था। इस पर गोलाप-माँ और भड़क उठीं – "हूँ, लड़का हुआ है, इधर दीक्षा लेने चली आयी हो !" उधर माँ इन सारी बातों को सुन रही थीं। उन्होंने मधुर कण्ठ से कहा – "यहाँ जो भी आता है, उसके साथ तुम ऐसा बर्ताव क्यों करती हो? ये सब मेरी सन्तानें हैं। मेरे पास भेज दो। देखती नहीं, कितनी सरल है ! सरल नहीं होने से क्या कोई मेरे पास आ सकता है? देखो न, लगता है मानो वन्य पक्षी हो।"

इन्दुबाला माँ के पास गयीं। उनका हृदय आनन्द से भर उठा। सारा भय जाता रहा। माँ ने बुलाकर अपने पास आसन पर बैठाया और बोलीं – "मैं जानती थी तुम आओगी।" माँ ने उन्हें मंत्रदान दिया। और खुद ही उन्हें एक हरीतकी देकर उनसे उसे दक्षिणा-स्वरूप देने को कहा। माँ ने उनके गीले वस्त्र देखकर उन्हें एक वस्त्र भी प्रदान किया, जिसे उन्होंने स्वीकार नहीं किया। उसके बाद इन्दुबाला के पति ज्योतीन्द्र नाथ भी आये और दोनों ने माँ की चरण-पूजा की। माँ ने कहा – "सफेद पुष्प ठाकुर को बड़े प्रिय थे, इसीलिए उसे मेरे दाहिने पैर पर और पीला फूल मेरे बाँये पैर पर चढ़ाओ। उसके बाद माँ ने उन दोनों को आशीर्वाद दिया। माँ ने तीन बार घी-भात अपने मुँह में डालने के बाद उसे इन्दुबाला को खाने के लिए दिया। फिर पानी देकर हाथ धुलवाया और पान दिया। यद्यपि इन्दुबाला पान नहीं खाती थी, तथापि माँ ने उसे अपने हाथों से उनके मुख में डाल दिया। इधर गोलाप-माँ इन्दुबाला को माँ को स्पर्श करने से मना करती रहीं। माँ ने कहा – "अरे, ये सब मेरी सन्तान हैं, ऐसा क्यों बोलती हो।" फिर श्रीमाँ ने उन्हें अपने बगल में फर्श पर सुलाया और उनसे गहनों के बारे में बातें की।

इन्दुबाला के माँ के पास आने की कहानी भी दिलचस्प है। इन्दुबाला ने कहीं सुना था कि कलकत्ते में एक मशीन के सहारे अपने दिवंगत सम्बन्धियों की आत्मा से बातचीत करायी जाती है। इन्दुबाला के पति ने श्रीमाँ के पास भेजते समय उनसे कहा था – "जाओ, माँ से मिलो।" इससे इन्दुबाला को यह भ्रम हो गया कि मेरी (स्वर्गवासिनी) माँ ही शायद सारदा-माँ हैं। वे श्रीमाँ से पूछ बैठी – "मेरी जो माँ मर गई हैं, क्या तुम वही हो?" उनका सरल विश्वास देखकर माँ ने कहा – "हाँ, मैं ही तुम्हारी गर्भधारिणी माँ हूँ।" फिर इन्दुबाला ने पूछा – "तो फिर गाँव क्यों नहीं आती हो?" श्रीमाँ कहती थीं – "विश्वास हुआ, तो सब हो गया। जिन्हें आना है, वे अवश्य आयेंगे, आ भी रहे हैं।

सरल लोगों के लिए मेरा आशीर्वाद हमेशा के लिए रहा है।'' माँ इन्दुबाला को द्वार तक छोड़ने आयीं और पूछा – ''मंत्र याद है?'' उन्होंने कहा – ''हाँ।'' तो भी माँ ने उनके कान में मंत्र एक बार और बोल दिया। वे इन्दुबाला तथा उनके पति को विदाई देकर खड़ी-खड़ी उन्हें जाते हुई देखती रहीं। ऐसी थी श्रीमाँ।

राँची में जब-जब श्रीरामकृष्ण का जन्मोत्सव होता, तब माँ बड़ी प्रसन्न होतीं, कहतीं – ''ठाकुर खुद उनके सहायक हैं, अत: वहाँ के उत्सव का आनन्द कुछ और ही होगा।''

ऐसी थीं भक्त-वत्सला माँ

एक बार इन्दुबाबू तथा राँची के कई भक्त माँ से मिलने जयरामबाटी गये। वहाँ जाकर उन्हें पता चला कि माँ काफी अस्वस्थ हैं और किसी के लिये भी उनसे मिलना सम्भव नहीं है। यह सुनकर वे लोग माँ के घर के बाहर एक कोने में बैठे रहे। सहसा उन लोगों ने देखा – माँ स्वयं ही हाथ में कुछ प्रसाद लिए धीरे-धीरे अपने कमरे से बाहर निकलीं और उन्हें प्रसाद देकर उनका प्रणाम ग्रहण किया। वे बोलीं – ''हो गया न!'' सबकी खुशी का ठिकाना न रहा। धीरे-धीरे माँ फिर अपने कमरे में चली गयीं। भक्तों के पूछने पर कि माँ कहाँ गयी थीं, परिचारिका ने बताया – ''स्वास्थ्य थोड़ा ठीक है, यों ही बाहर निकली थीं।'' ऐसी भक्तवत्सला थीं माँ!

ऐसी ही एक घटना राँची के ही शिरीष चन्द्र घटक के साथ भी घटी थी। वे भी माँ से मिलने जयरामबाटी गये थे। वर्षा के दिन थे और उन दिनों वहाँ साँपों का बड़ा उपद्रव था। माँ सर्वदा वहाँ आनेवाले भक्तों के लिए चिन्तित रहा करती थीं। शिरीष चन्द्र घटक जब माँ के पास पहुँचे, तो उन्होंने माँ को बहुत ही चिन्तित पाया। माँ बोल उठीं – ''ठीक से आये हो न बेटा! मैं तुम्हारे लिए बहुत चिन्तित थी। बरसात में वे (साँप) चारों तरफ घूमते रहते हैं। तुम लोग बाहर से आते हो। वे मेरी बात थोड़े ही सुनेंगे! हमेशा भय बना रहता है कि किसी को डँस न दें।'' (माँ इस प्रकार उन्हें बचाते हुए अपने घर ले गयीं)। माँ शिरीष चन्द्र घटक के बारे में कहतीं – ''जनम–जनम में मुझे ऐसी सन्तान प्राप्त हो।'' शिरीष चन्द्र घटक के प्रति उनका अपार स्नेह था।

महापुरुष महाराज के संग

महापुरुष महाराज (स्वामी शिवानन्द) के राँची-आगमन (१९१६) के समय भी एक बड़ी रोचक घटना हुई। इन्दुबाला की सास, अर्थात् ज्योतीन्द्र नाथ घोष की माँ महाराज से मिलने गयीं। जब वे उन्हें प्रणाम करके उठीं, तो महाराज ने उनसे पूछा – ''क्या चाहिए माँ?'' इस पर घोषबाबू की माँ बोलीं – ''बाबा, मुझे मुक्ति चाहिए।'' सुनकर महाराज बड़े प्रसन्न हुए और बोले – ''अहा! मुक्ति माँग रही हो माँ, इतनी बड़ी चीज तो कोई नहीं माँगता। बहुत अच्छा, मैं ठाकुर से कहकर तुम्हारी मुक्ति की व्यवस्था अवश्य करूँगा।'' और आश्चर्य! उन्होंने ८० वर्ष की आयु में स्वस्थ रहते हुए ही अपना शरीर छोड़ा। मुक्ति तो उन्हें अवश्य ही मिली थी।

बेलुड़ मठ की घटना

हिनू बंगला स्कूल के प्रधानाचार्य अनन्त मुखर्जी महापुरुष महाराज के शिष्य थे। एक बार वे उनके दर्शनार्थ बेलूड़ मठ गये। महापुरुष महाराज उनसे राँची के भक्तों की खबर ले रहे थे। ज्योतीन्द्र नाथ का नाम सुनते ही वे तत्काल अपने दोनों हाथों को ऊपर उठाकर कई बार 'जतीन-जतीन' बोल उठे। राँची के भक्तों के प्रति उनका ऐसा ही लगाव था।

एक बार माँ के शिष्य इन्दुबाबू बेलूड़ मठ गये। गंगास्नान और ठाकुर के दर्शनोपरान्त वे प्रसादी भोजन के लिये बैठे। महापुरुष महाराज भी भोजन करने बैठे थे। अक्षय तृतीया का दिन था – अत्यन्त शुभ दिन! सहसा महापुरुष महाराज ने अपनी थाली में से थोड़ा-सा प्रसाद उठाकर इन्दुबाबू को दिया और बोले – ''आज अक्षय तृतीया है। तुम्हारे साथ मेरा अक्षय सम्बन्ध हुआ।'' ऐसे प्यारे थे उनके राँची भक्त।

स्वामी अभेदानन्द का सान्निध्य (१९२४)

स्वामी अभेदानन्द जी के राँची आगमन पर उनके प्रवचन की व्यवस्था हुई। प्रवचन के बाद उन्होंने इन्दुबाबू से पूछा – ''कैसा लगा?'' वे बोले – ''बहुत अच्छा लगा।'' इस पर महाराज ने कहा – ''अरे! तुम खुश हो, तो जगत् खुश होगा।'' इन्दुबाबू विनयपूर्वक बोले – ''महाराज, यह आप क्या कह रहे हैं?'' महाराज बोले – ''हाँ, हाँ, मैं ठीक कह रहा हूँ। मैं आदमी पहचानता हूँ।'' उन दिनों इन्दुबाबू के घर अनेक संन्यासियों का आागमन होता रहता था। अभेदानन्दजी भी उन्हीं के घर पधारे थे। जाते समय उन्होंने कहा – ''मैंने पृथ्वी के कई हिस्सों का काफी भ्रमण किया है, पर यहाँ (अर्थात् राँची) के जैसे भक्तों को कहीं नहीं देखा। तुम लोग मुझे एक बार और बुलाना।'' परन्तु दुर्भाग्यवश उनका आना फिर कभी नहीं हुआ।

एक बार महापुरुष महाराज ने ज्योतीन्द्र नाथ को पत्र लिखा था – ''तुम लोगों को देखकर बहुत ही आनन्द होता है। क्योंकि तुम लोगों ने जड़-मूल में ही जल दिया है, मूल हैं श्रीमाँ और तुम लोगों ने उनकी कृपा पायी है, उन्हें प्रसन्न किया है, उनके परम भक्त हो।''

सबके खोका महाराज

श्रीमाँ के प्रिय शिष्य शिरीष चन्द्र घटक लिखते हैं – ''प्रथम महायुद्ध के समय (१९१४–१८) मेरे एक भाई युद्ध में गये थे। परिवार के सभी लोग चिन्तित थे कि वे लौटकर आयेंगे या नहीं। मैं भी दुश्चिन्ता से ग्रस्त होकर आकुल हो

उठा था। पूज्यपाद खोका महाराज (स्वामी सुबोधानन्द) उस समय राँची में ही थे। मैं प्रत्येक दिन उनके पास जा बैठता और मन को बड़ी शान्ति मिलती। एक दिन वे मुझे हुक्का जलाने के लिए कहकर शौच के लिए गये। हुक्का जलाते हुए मेरे मन में एक विपरित भावना ने प्रवेश किया कि मैं अपने मन की शान्ति के लिए क्यों प्रतिदिन महाराज के पास आकर उन्हें कष्ट देता हूँ! यह ठीक नहीं हैं। फिर सोचा जाकर मन्दिर में बैठूँगा और कोई एक निष्कर्ष निकालकर ही छोड़ूँगा। ऐसा सोचकर मैं खोका महाराज के लिए हुक्का तैयार कर उनके शौच से लौटने के पूर्व बिना उनकी अनुमति लिए ही वापस आ गया। मैं ज्योंही मन्दिर की ओर चला, त्योंही खोका महाराज आ पहुँचे और कहने लगे –''क्या हुआ है तुम्हें? उसी समय से मेरा हृदय छटपटा रहा है।'' यह कहकर उन्होंने अपने हाथ से मेरा वक्षस्थल स्पर्श किया। क्या बताऊँ, जैसे लहरों से युक्त सागर प्रशान्त हो जाता है, वैसे ही मेरा अशान्त मन क्षण भर में शान्त हो गया। मेरी विधवा दीदी बगल में ही खड़ी थीं। महाराज उनकी ओर उन्मुख होकर बोले – ''देखो, मैं बोल रहा हूँ न, तुम्हारा भाई जरूर लौट आयेगा, चिन्ता की कोई बात नहीं।'' महाराज के श्रीमुख से इस तरह की दृढ़तापूर्वक बात विरले ही सुनने को मिलती थी। भक्तों के लोक-परलोक के मंगलार्थ उनका हृदय करुणा से कितना विगलित हो उठता था।

राँची के एक भक्त उमाचरण बाबू को लिखे १२ मई १८१४ को बेलूड़ मठ से अपने पत्र में खोका महाराज कहते हैं – ''तुम श्रीरामकृष्ण के उपदेश की बात करते हो। देखो, जब श्रीमाँ ने स्वयं तुम लोगों पर कृपा की है और बेलूड़ मठ के सभी साधु-संन्यासी तुम लोगों के प्रति स्नेह-भाव रखते हैं, तो तुम लोगों के लिए चिन्ता की कोई बात नहीं। अब तुम लोगों के जीवन को देखकर दूसरे लोग श्रीरामकृष्ण के विषय में जानेंगे और अनुभव करेंगे। ठाकुर समस्त भक्तों के अन्दर प्रेम बढ़ाने हेतु ही बीच-बीच में उन्हें कष्ट देते हैं। पहले कष्ट और फिर शान्ति देते हैं। इन विषयों पर जो जितनी गहराई से सोचेगा, वह उतना ही समझ पायेगा। तुम मेरा स्नेह लेना और सबको देना। आशा करता हूँ कि डोरांडा तथा हीनू के भक्त और तुम सकुशल हो।''

श्रीमाँ तथा खोका महाराज का राँची के भक्तों के प्रति कितना स्नेह था, इसका एक अन्य उदाहरण इन्दुबाबू तथा राँची के अन्य सभी भक्तों को लिखे उन्हीं के एक पत्र से साफ झलकता है। वे लिखते हैं – ''आप सभी श्रीमाँ की शुभेच्छा तथा आशीर्वाद स्वीकार करेंगे और सभी महिला भक्तों तथा बच्चों को भी माँ का आशीर्वाद देंगे। हम लोगों के बेलूड़ मठ पहुँचने का संवाद नीरद के पत्र से अवश्य मिला होगा। इसके पूर्व मैंने कामारपुकुर से श्री रघुवीर का चरण-तुलसी भेजा था, शायद प्राप्त हुआ होगा। आज सुबह मैं श्रीमाँ से मिला। माँ आप सबका कुशल-मंगल पूछ रहीं थीं। उन्होंने उत्सव की जानकारी ली और बड़ी सन्तुष्ट हुईं। आप सबकी सेवा तथा स्नेह हृदय में सदा अंकित रहेगा।''

खोका महाराज की एक खास विशेषता थी – उनकी असाधारण सरलता। अनेकों बार देखने में आया है कि उनके सरल व्यवहार में गम्भीर तात्पर्य निहित रहा करते थे। राँची की ऐसी ही एक घटना उल्लेखनीय है। बँगला का नववर्ष – बैशाख का पहला दिन था। प्रात:काल महाराज एक भक्त से बोले – ''चलो, उस चटर्जी के यहाँ हो आयें।'' वह भक्त वहाँ जाने में हिचकिचा रहा था, परन्तु खोका महाराज के अनुरोध को टाल न सका। उसके घर पहुँचकर कुछ बातें करने के बाद महाराज ने कहा – ''चटर्जी महाशय, क्या आप मुझे एक चिलम तम्बाकू देंगे?'' चटर्जी महाशय के हुक्का लाने पर उन्होंने अपना हाथ फैलाकर उसे ग्रहण किया। लौटते समय उक्त साथी भक्त ने विनयपूर्वक शिकायत के सुर में उनसे कहा – ''महाराज, घर ही तो तम्बाकू था, फिर आप उससे माँगने क्यों गये?'' उन्होंने हँसकर कहा – ''वह ब्राह्मण श्रीमाँ को भजता है। आज नववर्ष का दिन है, इसीलिए मैंने उससे दान ग्रहण किया। माँ उसका भला करेंगी।'' ऐसे सरल थे खोका महाराज!

कुछ अलौकिक घटनायें

पूज्यपाद खोका महाराज उन दिनों राँची में विराजमान थे। एक दिन प्रात:काल भ्रमण करते हुए वे एक भक्त के घर पधारे। उस घर की गृहिणी उदर-शूल से ग्रस्त होकर बिस्तर पर लेटी हुई छटपटा रही थीं। राँची आने पर वे उन्हीं के यहाँ ठहरते थे। अत: उस परिवार के सभी सदस्यों से उनका काफी लगाव था। गृह-स्वामिनी की आँखों में आँसू देखकर उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि वे क्या करें। थोड़ी देर विचार करने के बाद वे बोले – ''बेटी, तुम मेरे इस हाथ को देख रही हो?'' महिला बोली – ''हाँ, महाराज।'' खोका महाराज – ''इसी हाथ से मैंने ठाकुर का चरण-स्पर्श किया है। क्या इस हाथ में कोई गुण नहीं है? देखें, तुम्हें कहाँ पीड़ा हो रही है?'' भक्त-महिला के बताने पर महाराज ने उस स्थान को स्पर्श किया। बड़े आश्चर्य की बात! स्पर्श मात्र से ही उक्त महिला की पीड़ा जाती रही।

एक बार खोका महाराज राँची में थे। उन्हीं दिनों उनकी एक भक्त-महिला ने उनसे मिलने आने के पूर्व अपने रसोईघर में दबाने से बन्द होनेवाला ताला लगा दिया, परन्तु उन्हें ध्यान न रहा कि उस ताले की चाभी रसोईघर के अन्दर ही रह गयी है। वह दिन भर महाराज के साथ 'वचनामृत'-पाठ और विविध विषयों पर चर्चा आदि करने के पश्चात् जब घर

लौटीं, तब उन्हें रसोईघर की चाभी का ख्याल आया। अपनी भूल का बोध होने पर वे चिन्तित हो उठीं, क्योंकि स्कूल से लौटे बच्चों को भोजन भी तो देना था। वे दौड़ी दौड़ी महाराज के पास जाकर बोलीं – ''महाराज, शीघ्र चलिये।'' महाराज ने पूछा – ''क्यों, क्या बात है?'' महाराज को जब उन्होंने यह बात कही, तो वे बोले – ''देखो, इसमें मैं क्या कर सकता हूँ। मैंने तुम्हें चाभी अन्दर रखने को कहा था क्या?'' इसके बाद उन्होंने चाभियों का एक गुच्छा दिखाकर कहा – ''लो, इनसे कोशिश करके देखो।'' लेकिन अन्ततः महाराज को उक्त महिला के घर जाना ही पड़ा।

उसके बाद हथौड़े से प्रहार करने पर भी वह ताला नहीं खुला। वे भक्त-महिला बार-बार दुहराये जा रही थी – ''महाराज, किसी भी प्रकार इस ताले को खोल दीजिए, बच्चों को भोजन देना है। नहीं खोलने पर मैं आपको यहाँ से नहीं जाने दूँगी।'' महाराज हँसकर बोले – ''पगली बच्ची।'' यह कहकर वे सहसा न जाने किधर चले गये। किसी को भी पता ही नहीं चला कि कहाँ गये हैं। उक्त महिला ने अपनी माँ से पूछा – ''माँ, महाराज किधर गये?'' उनकी माँ बोलीं – ''मैं तो दरवाजे के पास ही बैठी हूँ। महाराज कहाँ जा सकते हैं! तब तक देखा गया कि महाराज ताला खोलकर जा चुके थे, जबकि चाभी रसोईघर के अन्दर ही थी। शाम को टहलते हुए जब महाराज फिर उक्त महिला के घर आये, तो वे उनसे शिकायत के सुर में बोली – ''अब मैं आपको जाने नहीं दूँगी।'' इस पर महाराज ने कहा – ''अरे पगली, मैं हमेशा तुम लोगों के पास ही तो रहता हूँ।''

खोका महाराज अपने राँची-प्रवास के दौरान विभिन्न भक्तों के घर आते-जाते और भिक्षा भी ग्रहण करते। भक्त उनकी सेवा करने को लालायित रहते। सभी चाहते कि महाराज मेरे ही घर रहें। उन्हें विभिन्न प्रकार के व्यंजनों का आस्वादन कराने में उन लोगों को परम आनन्द होता था। एक महिला भक्त के घर के बगल से वे प्रायः ही गुजरते, पर वहाँ ठहरते नहीं थे। वे महिला सोचतीं – ''काश! महाराज मेरे घर पर भी आते!'' वह प्रायः ही उनके दर्शन हेतु अपने रसोईघर की खिड़की के पास खड़ी रहती थी। एक दिन महाराज उसे देखकर बोले – ''बहुत देर हो गयी है, इसलिये अभी तो मैं जा रहा हूँ। अपनी माँ से कहना – मैं दोपहर के बाद आऊँगा।'' सुनकर वह अति प्रसन्न हुई। सोचने लगी – ''महाराज आयेंगे, तो कितनी ही बातें करूँगी।'' इस प्रकार बीच-बीच में महाराज उसके घर आने जाने लगे और वहाँ वे विविध विषयों पर चर्चा करते। वे इसी प्रकार भक्तों की मनोकामना पूर्ण किया करते थे।

खोका महाराज इन्दुबाबू के घर आते ही रहते थे। घर के सभी सदस्य उनकी सेवा में जुटे रहते थे। वे लोग महाराज को बेलुड़ मठ के संन्यासी नहीं, बल्कि अपने ही परिवार के एक सदस्य के जैसा मानते थे। खोका महाराज भी सब के साथ काफी घुल-मिलकर रहते, मानो परिवार के ही एक सदस्य हों। कितना आश्चर्य!

एक बार इन्दुबाबू की धर्मपत्नी खोका महाराज से बोलीं – ''महाराज, आप संन्यासी हैं, ठाकुर की सन्तान हैं और हम लोग साधारण गृहस्थ हैं। आप हमारे यहाँ रहते हैं। हम लोगों के द्वारा कितना सेवा-अपराध होता होगा। इससे क्या हम लोगों का अमंगल नहीं होगा?'' उन्होंने तत्काल कहा – ''नहीं माई, नहीं। तुम लोगों को कोई अपराध नहीं लगेगा।'

खोका महाराज जब इन्दुबाबू के घर पर थे, उस समय कोई बेलूड़ मठ से उन्हें लेने आया। परन्तु वे मठ न जाकर कुछ दिन और राँची में ही बिताना चाहते थे। इन्दुबाबू ने बहुत कहा – ''एक बार जाकर घूम आइये।'' तब वे जाने को राजी हुए। परन्तु जाते वक्त उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा – ''जा रहा हूँ, परन्तु अब और आना नहीं होगा।'' और इसके बाद वे अस्वस्थता के कारण पुनः नहीं आ सके।

खोका महाराज के ब्रह्मलीन होने के बाद राँची की ही एक अन्य महिला-भक्त काफी शोकातुर हो उठीं और सोचने लगीं – ''अब मेरा क्या होगा! महाराज तो चले गये, अब क्या हम लोग कभी उन्हें देख सकेंगे?'' यही सोचते-सोचते उन्हें निद्रा आ गयी। स्वप्न में उन्होंने देखा कि वे वाराणसी गयी हैं। वहाँ के आश्रम में महाराज खड़े हैं। उनके वहाँ जाते ही महाराज बोले – ''अरे, कौन कहता है, मैं नहीं हूँ? मैं तो सर्वदा तुम लोगों के लिए चिन्ता करता रहता हूँ।'' स्वप्न में इस प्रकार महाराज को देखकर उनका मन शान्त हो गया।

❑❑❑

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

(५२) मन-क्रम-बचन-भजन दृढ़ नेमा

एक बार गुरु गोविन्दसिंह के पास उनके कुछ शिष्य आये और बोले, ''गुरुदेव, हम आपकी वाणी का प्रतिदिन नियमपूर्वक श्रवण करते हैं और आपके निर्देशानुसार जाप भी करते हैं, पर अब तक हमें उसका कुछ भी फल नहीं मिला। ऐसा क्यों?'' गोविन्दसिंह ने सुना तो वे मुस्कुरा भर दिये। समीप ही कुछ और शिष्य खड़े थे। उनमें से एक से उन्होंने कहा, ''जाओ एक पात्र में मदिरा भरकर ले आओ।'' शिष्य को गुरु से ऐसे आदेश की आशा नहीं थी। वह चुपचाप खड़ा रहा। तब गुरु बोले, ''जाओ भाई, मैं जैसा कह रहा हूँ, वैसा करो।'' वह शिष्य बेमन से गया और एक पात्र में मदिरा ले आया। तब वे प्रश्नकर्ता से बोले, ''इससे तब तक कुल्ला करो, जब तक यह खत्म नहीं हो जाती।'' शिष्य ने वैसा ही किया। उन्होंने शिष्य से प्रश्न किया, ''क्या तुम होश में हो या तुम्हें नशे का कुछ असर महसूस हो रहा है?'' शिष्य ने उत्तर दिया, ''आपने कुल्ला करने को कहा था। जब शराब गले से नीचे उतरी ही नहीं, तो नशा कैसा चढ़ेगा?''

''तुमने ठीक कहा'' – गोविन्दसिंह बोले, ''जाप, भजन, बानी के उच्चारण का भी ऐसा ही है। इनका तुम केवल कुल्ला ही करते हो, मुँह से उच्चारण करके बाहर निकाल देते हो, इस कारण उसका अमल गले से नीचे नहीं जाता। जप-तप को अन्तर्मन से करना होगा, श्रद्धा, प्रेम और निष्काम भाव से करना होगा। जिस दिन इनका हृदयंगम करने लगोगे, उसमें मस्त होकर स्वयं को डुबो दोगे, बस उसी दिन से तुम्हें उसका परिणाम दिखाई देने लगेगा।''

(५३) माया वस्य जीव अभिमानी

एक बार सन्त जुबैद से एक जिज्ञासु ने प्रश्न किया, ''दुनिया में कई लोगों को तरह-तरह की सिद्धियाँ प्राप्त हैं और वे उनके बल पर लोगों को चमत्कार दिखाते रहते हैं। मैंने पढ़ा है कि कुछ लोग आकाश में उड़ सकते हैं, तो कुछ लोग एक छोर से दूसरे छोर तक जा सकते हैं। क्या पुण्यवान लोगों को ऐसी सिद्धियाँ हासिल हो सकती हैं?''

जुबैद ने उत्तर दिया, ''तुम्हारे ऐसे बेतुके प्रश्न को सुनकर मुझे हँसी आ रही है। उड़ते तो पक्षी भी हैं और तुमने यह भी पढ़ा होगा कि भूत देखते-ही-देखते एक छोर से दूसरे छोर तक जा सकते हैं। तो क्या इसका अर्थ यह हुआ कि पक्षी और भूत भी पुण्यवान हैं। वस्तुत: पुण्यात्मा वह होता है, जिसे उसके नि:स्वार्थ कर्मों के कारण भगवान के दर्शन होते हैं। परमात्मा बाहर नहीं, मनुष्य के हृदय में, उसके चित्त में, उसके अन्त:करण में वास करते हैं। उसे बाह्य प्रेम से नहीं, बल्कि शुद्ध अन्त:करण से निर्विकार होकर सत्कर्म करने से प्राप्त किया जा सकता है। उसे पाने का मार्ग है – धर्म। परमात्मा की प्राप्ति चमत्कारों या सिद्धियों से नहीं, मन में उठती इच्छाओं को नियंत्रित करने से होती है। ऐसा ही जीव 'पुण्यात्मा' कहलाता है। परमात्मा और जीव के बीच माया का परदा होता है, जिस दिन यह परदा हटेगा, अभिमान की भावना दूर होगी, 'मैं' का ख्याल दिल से हटेगा, उसी दिन परमात्मा से एकाकार हो सकेगा। मैं और मेरा यही माया है। इसी माया के आवरण को हटाने पर परमात्मा से मिलन हो सकेगा। तब कोई चमत्कार दिखाने की इच्छा नहीं रहेगी।''

(५४) जैसा अन्न, वैसा मन

एक बार सन्त सिम्शा जंगल से जा रहे थे। रास्ते में उन्हें जोरों से प्यास लगी, पर दूर-दूर तक कोई दिखाई नहीं दिया। आखिर एक गाँव में उन्हें एक कुँआ दिखाई दिया। वहाँ एक लोटा व डोरी रखी हुई थी। उन्होंने पानी निकाला और अपनी प्यास बुझाई। जाते समय सहसा मन में ख्याल आया कि यहाँ तो कोई भी नहीं है, क्यों न इस डोरी और लोटे को साथ ले जाऊँ, ताकि आगे जब भी प्यास लगे, कुएँ से पानी निकाला जा सकेगा। उन्होंने लोटे व डोरी को हाथ में लिया ही था कि मन में दूसरा विचार आया – ''आज तक तो तूने लोभ, मोह, मद, मत्सर से दूर रहकर अपना जीवन बिताया है और अब यह चोरी करके अपने चरित्र पर दाग लगाने जा रहा है। धिक्कार है तुझ पर जो ऐसा विचार तेरे मन में आये।'' वे आगे तो बढ़ गये, पर मन-ही-मन अपने को कोसने लगे। थोड़ी दूर जाने पर उन्हें एक व्यक्ति दिखाई दिया। सन्त को देखकर उसने झुककर प्रणाम किया। तब सन्त ने थोड़ी देर पहले घटित प्रसंग को बताकर उससे कहा कि अब वे चरण छूने लायक नहीं रहे। इस पर वह व्यक्ति बोला, ''आप जैसे थे, अब भी वैसे ही हैं, क्योंकि आपने बुरे ख्याल को प्रश्रय नहीं दिया। वस्तुत: उस कुएँ को एक चोर ने पुण्य कमाने के इरादे से बनाया था। उसने चोरी बन्द नहीं किया, पर सोचा कि कुआँ बनाने के नेक काम से उसके पाप धुल जायेंगे। पर जो भी इस कुएँ का पानी पीता है, उसके मन में बुरे विचार आते हैं।'' बात सन्त के ध्यान में आ गई कि दूषित अन्न या जल के असर से मन भी दूषित होता है।

रामकृष्ण मिशन, कडपा

नं. ५/४७५, ट्रंक रोड, कडपा - ५१६ ००१ (आ.प्र.)

फोन - (०८५६२) २४१६३३, ई.मेल - kadapamath@yahoo.com

Web site : www.rkm-kadapa.org

हमारी योजना

सन् २००५ में आन्ध्रप्रदेश के रॉयलसीमा क्षेत्र में रामकृष्ण मिशन ने एक नया केन्द्र आरम्भ किया है। इस केन्द्र के निर्माण हेतु कडपा के उप-नगरीय विकासमान अंचल में सरकार से १० एकड़ जमीन प्राप्त हुई है। मिशन की योजना है कि इसे निम्नांकित रूपरेखा के अनुसार एक सर्वांगपूर्ण केन्द्र के रूप में विकसित किया जाय –

क. श्रीरामकृष्ण का सार्वजनीन मन्दिर

ख. साधु-निवास

ग. कार्यालय तथा प्रशासकीय भवन और उसके साथ ही पुस्तकालय, साहित्य-विक्रय-केन्द्र आदि

घ. विद्यालय भवन – समाज के निर्धन वर्ग के बच्चों को उत्कृष्ट शिक्षा प्रदान करने हेतु। (प्रारम्भ में प्राथमिक से माध्यमिक तक)। वहीं पर शाम को हाई स्कूल के छात्रों के लिये कोचिंग की कक्षायें भी चलायी जायेंगी।

ङ. हाई स्कूल के छात्रों के लिये निःशुल्क छात्रावास

च. स्वास्थ्य केन्द्र - जिसमें होम्योपैथी, आयुर्वेद तथा फिजियोथिरॉपी विभाग भी होंगे। स्वास्थ्य-संरक्षण एवं स्वास्थ्य-शिक्षा हेतु एक चल-चिकित्सा-केन्द्र।

छ. सभागार - शैक्षिक, सांस्कृतिक कार्यक्रमों और मध्याह्न भोजन हेतु एक बहु-उद्देशीय खुला हॉल।

ज. मानव संसाधन विकास संस्थान – यह संस्थान अंग्रेजी वार्तालाप, कम्प्यूटर प्रशिक्षण, योग, आदर्श शिक्षा और ऐसे ही कुछ अन्य पाठ्यक्रमों की कक्षाएँ चलायेगा।

झ. उक्त संस्थान के लिये छात्रावास - विभागीय अतिथियों तथा आवासीय पाठ्यक्रमों के छात्रों के लिये।

ञ. ग्रामीण विकास – उपरोक्त मानव संसाधन विकास संस्थान निम्न-स्तरीय पिछड़े किसानों को कृषि, जल-संसाधन-व्यवस्था, ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था, मधुमक्खी पालन, मशरूम की खेती, पम्प की मरम्मत आदि करना भी सिखायेगा।

ट. अन्य कार्य – यथा - वर्षा-जल-संग्रहण हेतु ढाँचा, रास्तों, सड़कों तथा और अन्य उपयोगी वस्तुओं का निर्माण आदि कार्य भी हाथ में लिया जायेगा।

हमें अपने मित्रों और शुभेच्छुओं को सूचित करते हुए प्रसन्नता हो रही है कि इस नयी भूमि पर कार्य आरम्भ हो चुका है। इन सभी मूलभूत विकास-कार्यों (जिन पर अनुमानतः ५५० लाख का खर्च आयेगा) और उपरोक्त गतिविधियों के क्रियान्वयन हेतु आप सबके हार्दिक सहयोग की आवश्यकता है। दान छोटी हो या बड़ी, सधन्यवाद स्वीकार की जायेगी और प्राप्ति की सूचना दी जायेगी।

हम आपसे यथाशक्ति सहयोग के लिये अपील करते हैं। चेक/ड्राफ्ट रामकृष्ण मिशन, कडपा के नाम से भेजा जा सकता है। रामकृष्ण मिशन को दिये गये दान आयकर की धारा ८०-जी के अन्तर्गत करमुक्त हैं। विशेष दान-दाताओं के नाम संगमर्मर के पत्थर या विशेष फलक पर अंकित किये जायेंगे। विशेष जानकारी हेतु हमसे सम्पर्क करें।

स्वामी आत्मविदानन्द

सचिव